

स्वामी आत्मदेव कृत

अद्वैत आनन्द दर्शन



प्रथमावृत्ति
१०००





मूल्य अजिल्द १)
सजिल्द १।)

मुद्रक—
पं० शिवशंकर शर्मा
अध्यक्ष टाइम्स प्रेस, बिजनौर

मिलने के पते—
१ साहू पन्नालाल रामकिशोर धामपुर
२ [illegible] भोलानाथ टोपीवाले चंदौसी यू० पी०

प्रकाशक—
ला० मनोहरलाल अग्रवाल
बिजनौर

॥ ॐ ॥

प्रस्तावना

यों तो संस्कृत से लेकर भाषा तक के अनेकों ग्रन्थ वेदान्त के छप चुके हैं जिनमें आत्म ज्ञान भरा पड़ा है इतना ही नहीं वरन् जितने भक्ति प्रधान ग्रन्थ हैं जैसे श्री मद्भागवत्, महाभारत आदि उनका भी मुख्य उद्देश्य आत्म ज्ञान कराने में ही है। ज्ञान केबिना मनुष्य दुःखों से पार नहीं हो सकता। उदाहरण के तौर पर, पवनपुत्र श्री हनुमान जी ही जब संजीवन बूटी लेने गये, बूटी का ज्ञान न होने के कारण इतना बड़ा पहाड़ का पहाड़ ही उठा कर लाना पड़ा, तथा श्री रामचन्द्र जी महाराज पास में होने पर भी आनन्द नहीं आया, जब उनको पहिचाना तब ही आनन्द प्राप्त हुआ। हमारे पूर्वाचार्यों को यही सिद्धान्त था कि मनुष्य को भगवान के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जावे, परन्तु भक्ति आदि ग्रन्थों में और भी बहुत से उपाख्यान हैं और उपनिषद् श्रुति आदि वेदान्त ग्रन्थ क्लिष्ट हैं इसलिये मुमुक्षुओं के हितार्थ इस अद्वैत आनन्द दर्शन की आवश्यकता हुई। पूज्यपाद श्री

१०८ स्वामी आत्मदेवजी महाराज परमहंस परिव्राजक बड़े अनुभवी विरक्त महात्मा हैं। आपने अपने सदुपदेश द्वारा बहुत से मनुष्यों का कल्याण किया है। ऐसे ही कुछ महानु भावों के कहने से यह ग्रन्थ तैयार किया है। साहित्य का ध्यान न देते हुए जन साधारण के हितार्थ आपने सरलता पूर्वक साधारण भाषा में ही लिखने की कृपा की है। मेरा विचार है कि आजकल के जिज्ञासु जिनको भगवत् तत्व की इच्छा है और साधारण हिन्दी का ज्ञान है उनके लिये यह ग्रन्थ अति उत्तम है इसके अनुसार साधन करने पर मनुष्य अपरोक्ष अनुभव प्राप्त कर सर्वदा को सुखी हो सकता है। इसको प्रकाशित करने के लिये धन की आवश्यकता हुई जिसको धामपुर निवासी लाला पन्नालाल रामकुमार ने शीघ्र ही प्रकाशन का समस्त भार अपने ऊपर ले लिया उनकी यह उदारता सराहनीय है।

निवेदक—

आनन्ददेव वेदान्ती

परमात्मनेनमः

भूमिका

श्री सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म जिससे यह सब है और जो यह सब है और जो सब में नित्य है तथा जिस करके यह सब दृश्य भाष्य मान होता है जिसमें स्थित रहता है तथा जिसमें लयभाव को प्राप्त होता है अचिन्त चिन्मात्र मूर्ति जो केवल अपने हीं अनुभव से बोध होने योग्य है शान्त तथा तेजोमय ईश्वर जो मेरा अनुभवात्मक है उस सर्वात्मा को नमस्कार करके केवल स्वरूप स्थिति का हृदय कोट में विचार करके सत्य संकल्प द्वारा यह वेदान्त का ग्रन्थ आरम्भ करता हूं । इस ग्रन्थ में अद्वैत आनन्द का वर्णन किया गया है और अनेक प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है इसलिये इस ग्रन्थ का नाम भी अद्वैत आनन्द दर्शन है । यदि कोई संसारी जीव प्रश्न करे कि यह अद्वैत आनन्द कैसे प्राप्त होता है इसका उत्तर यह है कि श्रीमद्भगवगीता के अनुसार दैवी सम्पत्ति का प्राप्त होना ही अध्यात्म मार्ग की प्रथम सीढ़ी है जो साधक के प्राणों में भगवत् कृपा

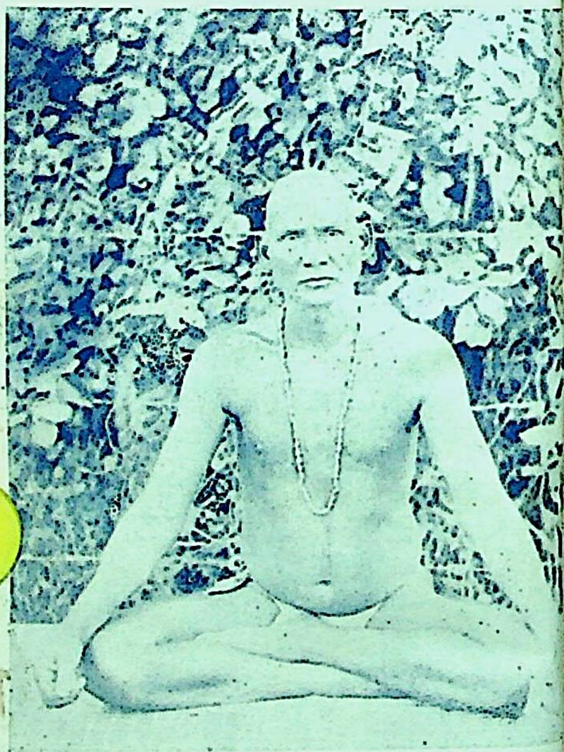
प्राप्त करने की आशा का संचार करती है, पुनः भगवान् में विश्वास कराती है। भगवान की कृपा तथा विश्वास इन दोनों गुणों को जिज्ञासु जितने अंश में अपनाता है उतने ही अंश में मनोबल से सम्पन्न होता है और उस मनोबल से अध्यात्म मार्ग के क्लेश आदिकों के सहन करने का स्वभाव बना लेता है। अधिक अंश में मनुष्य को संशय और अविश्वास आदि ही शक्तिहीन बना देते हैं मनुष्य के शुभ संकल्प के बल को इतना शक्तिहीन कर देते हैं कि शुभ कर्म करने का संकल्प ही नहीं होने देते। जिन मनुष्यों में दैवी सम्पत्ति का अभाव है उनके मनोबल का नाश होगया है। इसलिये अध्यात्म मार्ग की प्राप्ति में दैवी सम्पत्ति का होना अनिवार्य है इसलिये इस अद्वैत आनन्द दर्शन में उस अद्वैत पद पर पहुंचने के लिये प्रश्न उत्तर के द्वारा भली प्रकार से वर्णन किया गया है। जिज्ञासुओं को उचित है कि इस ग्रन्थ को अच्छी प्रकार से विचारा करें इसमें सन्देह नहीं दीर्घ अभ्यास के बिना वास्तविक लाभ नहीं होता। बहुत ग्रन्थ के पढ़ने से ही ब्रह्म ज्ञान होवे ऐसा नियम नहीं उत्तम अधिकारी गुरु मुख से महावाक्य सुनकर ही कृतकृत्य होसकता है।

इति शुभम्

विषय सूचि




पुस्तकालय,



परमहंस श्री १०८ स्वामी आत्मदेवजी

शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति		
१८	६	और चिदाभास संवेग चैतन्य रूप है इस लिये चिदाभास अन्तःकरण के आश्रय स्थित है ।	
६१	१५	विषय प्रवाह रूप करके चले आते हैं इसी से इन्द्रियां और अन्तःकरण के विषय ।	
१११	१५	सविकल्पता हुई और न निर्विकल्पता हुई।	
		अशुद्ध	शुद्ध
६	२०	पत्थ	पत्थर
१८	१८	जब ईश्वर	जीव ईश्वर
२७	८	कुछ नहा	कुछ नहीं
३९	६	सद्गुण ब्रह्म	सगुण ब्रह्म
५२	१३	सत्ता एक	सत्ता भिन्न
५३	१०	स्थित	स्थिति
५७	११	अन्तिम स्थित	अंतिम स्थिति
७८	६	परमवृत्ति	परमतृप्ति
८४	६	भूलना नहीं	भूलता नहीं
८४	८	स्मृति नहीं	स्मृति भी
८४	६	स्मृति	स्वरूप
१०७	२०	नाम रूमात्मक	नाम रूपात्मक

१२०	१५	व्ययहार	व्यवहार
१६४	५	उद्वेक	उद्रेक
१६५	१७	का स्फुरना	वा स्फुरना
२०५	४	दृष्टि करके	इस दृष्टि करके
२०६	१५	तत्वबोथ	तत्वबोध
२१३	१८	सगुण	परमात्मा की सगुण
२२८	५	वृद्ध	विक्षिप्त
२२७	२०	विवेकी	विवेक
२३०	१४	पाने से	अपने से
२६३	४	हैं कहते	कहते हैं
	१८	कृतकृता	कृतकृत्यता
२६४	५	नियर्यो	नियमों
२७६	१८	अभ्यास	अभ्यास से
२८०	१६	वृज्ञ	वृत्त
२६०	१४	ग्लानि	गलनी





* ॐ *

अद्वैत आनन्द दर्शन

प्रश्न—१ द्वैत ज्ञान किसे कहते हैं, संसार बन्धन से छुटकारा कैसे हो ?

उत्तर—द्वैत अर्थात् व्यवहारिक व साधारण ज्ञान ही द्वैत ज्ञान है, क्योंकि इस बात को साधारण मनुष्य भी जानते हैं, कि ग्राम और उसका मालिक और वह स्वयं यह तीनों पृथक २ हैं, इसी प्रकार संसार और उसका रचने वाला और जिसके लिये रचा हो—यह तीन सत्ता मानी जाती हैं, इसी के अनुसार ईश्वर जीव तथा प्रकृति—यह तीन तत्व भी नित्य माने जाते हैं, और यह तीनों सत्ता प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि में बैठ जाती हैं यह भेदभाव ही द्वैतवाद है। ईश्वर, देवता, मनुष्य, गन्धर्व वृक्ष, नदी, पशु, पक्षी, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नर्क, सुख तथा दुःख यह समस्त जगत इसी के अन्तर्गत है। यह ज्ञान प्रपंचात्मक होने के कारण इसको व्यवहारिक कोटि का ज्ञान भी कहते हैं। यह चाहे कितनी ही ऊंची कोटि का ज्ञान हो जाये परन्तु इस द्वैत ज्ञान से सम्बन्ध

बने रहने के कारण राग द्वेष का सर्वथा नाश नहीं हो सकता और न वासनाओं का ही क्षय हो सकता है इस ज्ञान से संसार चक्र में रहता है, इससे यह द्वैत ज्ञान अज्ञान ही माना जाता है, इस द्वैत ज्ञान से संसार बन्धन नहीं छूट सकता अतः आत्मा का साक्षात करने संसार बन्धन से अर्थात् जन्म मृत्यु से छुटकारा पा सकता है ।

प्रश्न २–ज्ञान किसे कहते हैं और जीव कैसे सुखी होता है ?

उत्तर––ज्ञान कहते हैं जानने को–जो जैसी वस्तु हो उसको वैसी ही जानना, जो वस्तु सत् हो उसको सत् जानना और जो वस्तु असत् हो उसे असत जानना (अर्थात् प्रतिबिम्ब को ज्ञान कहते हैं) जीव आनन्द स्वरूप है यह ज्ञान का एक अङ्ग है और इस ज्ञान के अभाव से ही जीव को सुख की इच्छा रहती है उसी से विकार तथा संस्कार उत्पन्न होते हैं जो कि दुःखों का कारण बनते हैं यह ज्ञान का दूसरा अङ्ग है जीव का और जीव के आनन्द स्वरूप का सबको प्रयत्त है प्रत्येक प्राणी अपने को जानता है और अपने आनन्द

स्वरूप का अनुभव गाढ़ निद्रा में सबको होता है। इससे प्रत्येक जीव को अपने आनन्द स्वरूप का ज्ञान परोक्ष नहीं है अपरोक्ष ही है, अपना स्वरूप आनन्दमय है ज्ञान में इस अङ्ग का साक्षात्कार होता है। इस साक्षात्कार किये ज्ञान को प्रतिदिन व्यवहार में वर्तना है उस आनन्द को व्यवहार में लाने के लिये उन प्रतिबन्धों को जो आनन्द के स्वरूप में रुकावट डालते हैं निवृति करने के लिये वैराग्य विवेक आदि की सहायता लेनी पड़ती है और कभी कभी अनुभवी पुरुषों की भी सहायता लेनी पड़ती है जो कि स्वरूप का साक्षात कर चुके हैं प्रत्येक मनुष्य को सुख की इच्छा अपने आनन्द स्वरूप के ज्ञान के अभाव में बनी रहती है और यही सांसारिक वस्तुओं की इच्छा विकार और संस्कारों को उत्पन्न करती है संस्कार समुदाय सहित जो आत्मा है वही जीव कहलाता है।

इस विकारी संस्कार समुदाय का यदि यथेष्ठ रीति से नाश हो जावे तो फिर केवल आनन्द ही आनन्द है ऐसे सुख के लिये किसी बाहर की वस्तुओं की आवश्यकता नहीं इच्छा के निवृति होते ही जीव विकारों

तथा संस्कारों से मुक्त हो जाता है और सदैव सुखी औ
आनन्द स्वरूपमय बना रहता है।

प्रश्न ३-ज्ञान होने पर बोधवान को यह संसा
कैसा प्रतीत होता है ?

उत्तर-जिस वस्तु की जिसमें भ्रम से कल्पना हुई
अथवा होजाती है उस आधार का ठीक २ ज्ञान हो जा
पर वह कल्पित वस्तु तद्रूप हो जाती है उससे पृथक सत्
नहीं रहती जिस प्रकार भ्रान्ति के नाश होने पर रस्सी
में भ्रान्ति वश प्रतीत होने वाला सर्प रस्सी रूप ही
प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार अज्ञान के नाश होने पर यह
समस्त जगत बोधवान को आत्मस्वरूप ही अर्थात् सच्चि
दानन्द रूप ही जान पड़ता है, तत्ववेत्ताओं की दृष्टि दो
प्रकार की होती है यह समस्त विश्व मैं हूं, अथवा
सम्पूर्ण चैतन्यमात्र है, उदार चित्त वालों की सर्वात्म
बुद्धि होती है।

प्रश्न ४-आत्मा जब सबका अपना आप है तो
सबको मैं आत्मा हूं ऐसा ज्ञात क्यों नहीं होता ?

उत्तर-जैसे चक्षु के आश्रय समस्त संसारी पदार्थ
देखे जाते हैं, परन्तु चक्षु निस्मरण होजाते हैं, और दूसरे

पदार्थ देखे जाते हैं, उसी प्रकार साक्षी के आश्रय समस्त अन्दर और बाहर के पदार्थ प्रतीत होते हैं, परन्तु साक्षी का ज्ञान नहीं रहता और दूसरे पदार्थों का ज्ञान परिपक्व हो जाता है, इसी कारण से आत्म दर्शन की इच्छा मनुष्यों को बनी रहती है बस-त्रिपुटी रूप संसार के साक्षी को जानकर तुम लोग सुखी हो जाओ। अथवा घर में चिराग़ जला होता है तो घर में प्रकाश भी होता है और जिस घर में चिराग नहीं जला होता उस घर में प्रकाश भी नहीं होता अन्धकार ही रहता है इसी प्रकार जहां शुद्ध अन्तःकरण होता है वहां ही आत्मा का ज्ञान होता है।

प्रश्न ५--अज्ञान क्या वस्तु है और कहां रहता है?

उत्तर अज्ञान भी कोई दूसरी वस्तु नहीं, किन्तु एक विशेषण है. जैसे जिस समय आंख से देखा जाता है उससे दूसरी वस्तु दृष्टि आती है, और स्मरण आती है, आंख दृष्टि नहीं आती और न स्मरण आती है। उसी प्रकार आंख साक्षी है और उसके आश्रय समस्त ब्रह्मांड दीखता है और स्मरण होता है और आंख साक्षी रूप है परन्तु साक्षी उसको नहीं जानता और न उसका स्मरण

होता है। यही अज्ञान है और अज्ञान अद्वैत वस्तु में सदा रहता है, क्योंकि जब एक ही वस्तु अपने आप में स्थित अद्वैत और परमगम्भीर रूप है तो उसमें कौन किसको जाने तथा माने उसकी स्थिति ही अज्ञानरूप होकर सिद्ध है। जब इस अज्ञान का इस प्रकार ज्ञान होता है उस समय यही अज्ञान अनुभव रूप होकर परम गम्भीर अपनी महिमा में प्रतीत होता है। इसलिये यह अज्ञान नहीं अद्वैत अवस्था है जहां मन, चित्त तथा बुद्धि और वाणी की गम नहीं और जो अज्ञान का शब्द जगत में व्यापा हुवा है सो इस अज्ञान का अज्ञान है, जब अज्ञान का ज्ञान होता है तब अज्ञान और ज्ञान की समाप्ति होकर बाकी जो अवस्था शेष रहती है वह मन बुद्धि की समाई नहीं। इस लिए अज्ञान के अज्ञान की निवृत्ति सब अज्ञान रचित भेद की निवृत्ति है, और अद्वैत अखंड अनुभव मात्र परम आनन्द की प्राप्ति है।

प्रश्न ६–अज्ञान का कारण कौन है ?

उत्तर–अज्ञान, अज्ञान से उत्पन्न होता है, जैसे मनुष्य से मनुष्य और पशु से पशु और पत्थ से पत्थर से

इत्यादि । उसी प्रकार अज्ञान से अज्ञान उत्पन्न होता है, इसके अर्थ न जानने के हैं, सो न जानना न जानने में रहता है । न जानने को त्याग कर दूसरे पदार्थ में नहीं रहता, इससे अज्ञान का कारण अज्ञान है और यह न्याय है कि कारण और कार्य समान जाति सम्बन्ध वाले होते हैं । कारण को त्याग कर कार्य स्वतन्त्र रीति से कहीं नहीं रहता, मानो कारण ही कार्यरूप होकर स्थित है । इसलिये जितने कारण और कार्य हैं एकरूप हैं और जब एकरूप हैं तो कारण और कार्य का भेद केवल अबोध बच्चों की कल्पना है । वास्तव करके देखो तो न कोई कारण है और न कोई कार्य है । अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है ।

प्रश्न ७–कल्पित क्या वस्तु है और यथार्थ वस्तु के साथ इसका क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर–कल्पित कोई वस्तु नहीं । यथार्थ वस्तु आप में आप स्थित है और सदा अद्वैत रूप है । द्वैत की कल्पना अद्वैत की साधक होने से अद्वैत से भिन्न नहीं किन्तु अद्वैतरूप है । जैसे प्रकाश सूर्य का साधक होने से सूर्य से भिन्न नहीं किन्तु सूर्यरूप है उसी प्रकार

कल्पित यथार्थ का साधक होने से यथार्थ से भिन्न नहीं किंतु यथार्थरूप ही है। कल्पित और यथार्थ पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे (दृष्टि और सृष्टि ; निषेध पक्ष में कल्पित संज्ञा प्रसिद्ध है और विधि-पक्ष में यथार्थ संज्ञा प्रसिद्ध है सो निषेध और विधि अद्वैत वस्तु के हैं। इसलिये विधि और निषेध भिन्न नहीं किन्तु अभिन्न हैं। और इसीलिये दोनों की समाप्ति अद्वैत वस्तु में है और दोनों करके अद्वैत वस्तु सिद्ध होती है। इस लिये दोनों अद्वैत रूप हैं। ऐसा अखण्ड ज्ञान जब प्रकाशित होता है तब कल्पित और यथार्थ अद्वैत रूप ज्ञात होकर केवल सत्ता सामान्य अवस्था रहती है।

प्रश्न ८–अनुभव वा परमतत्व में भेद है वा नहीं ?

उत्तर–भेद नहीं एक रूप है परन्तु अवस्था के भेद से भेद प्रतीत होता है। ज्ञान की अवस्था में वह परंतत्व अनुभव रूप है और स्थिति की अवस्था में वही अनुभव परंतत्व रूप है।

प्रश्न ६-ऐसे अनुभव रूप आत्मा की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर–जब धर्म और प्रेम की परिपक्वता होती है तब

उपरामता प्राप्त होती है और जब वह उपरामता स्वभावभूत हो जाती है। तब सद्गुरु का संग अच्छा लगता है. और जब सद्गुरु के संग से प्रिय बुद्धि उदय होती है उस काल में कुसंगों को त्याग कर केवल सद्गुरु के संग में आनन्द सहित काल को बिताता है। जैसे २ सद्गुरु का संग अधिक और दृढ़ होता जाता है और ज्ञान का सूर्य चमकता जाता है उसी प्रकार माया का आवरण निवृत्त होता जाता है।

और जिस २ प्रकार ज्ञान की भूमिका दृढ़ होती जाती है उसी उसी प्रकार संशयों की निवृत्ति होती जाती है। जब संशयों और विषयों का अत्यन्त अभाव हो जाता है तब केवल अनुभव रूप आत्मा शेष रहता है, सो वह अवस्था कृतकृत्य रूप है।

प्रश्न १०—आनन्द की प्राप्ति कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर-जैसे रस सदा रसनेन्द्रिय में रहता है परन्तु आनन्द ज्ञात नहीं होता जब पदार्थ का संयोग होता है और उसके स्पर्श का बारम्बार अभ्यास होता है उस समय रस प्रकट होकर आनन्द देता है। उसी प्रकार

आनन्द अपना स्वरूप है मगर प्रतीत नहीं होता, ज
सद्गुरू का संयोग होता है। और उन्हीं के उपदे
का वारम्वार अभ्यास किया जाता है उस सम
आनन्द प्रगट होता है पश्चात् जैसे २ अभ्यास ती
और दृढ़ होता जाता है उसी २ प्रकार आनन्द अधि
होता जाता है मानो अभ्यास आनन्द का ऐक कुं
हो जाता है। जैसे शरीर की पुष्टि के लिऐ अन्न औ
औषधि वार २ सेवन करते कराते हैं उसी प्रकार आ
अभ्यास भी अविनाशी सुख और निरंकुशा तृप्ति क
हेतु होने से जीवन मुक्ति के विलक्षण आनन्द की प्रा
के लिऐ निरंतर करना चाहिऐ।

प्रश्न–११ वृत्ति आत्माकार कैसे हो।

उत्तर–अन्तःकरण की वृत्ति बहुधा द्रवीभूत हो
है जिस पदार्थ के सन्मुख होती है उसी के आकार वा
हो जाती है जब शरीर तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध
त्याग कर अधिष्ठान के सन्मुख होती है तब अधिष्ठा
के आकार वाली हो जाती है, इस लिऐ वृत्ति को अधि-
ष्ठान के सन्मुख रक्खें, जिससे वृत्ति अपने वृत्ति भाव

त्याग कर अधिष्ठान रूप हो जावें, क्योंकि संसार भी वृत्ति करके सिद्ध है। और संसार का अभाव भी वृत्ति करके सिद्ध होता है जब वृत्ति नाम रूप के आकार वाली होती है तब संसार रूप होती है अर्थात् जब वृत्ति प्रपंच को धारण करती है तब वह वृत्ति विचित्र रूप हो जाती है और दीनता विक्षेप्ता आदि का फल भोगती है। क्योंकि द्वैतदृष्टि के विषय मन का जो फुरना है वह दुख रूप ही है होता है और अद्वैत दृष्टि के विषय मन का फुरना (संकल्प) सुख तथा शान्ती का हेतु है। क्योंकि उस काल में मन आपअस्ति रूप आत्मा प्रतीत होता है क्योंकि दूसरे का अभाव है केवल सतरूप से ही रहता है जो सबका सार है और सर्व का आत्मा है इसी प्रकार से वृत्ति आत्माकार होती है।

प्रश्न १२–देह अध्यास की निवृति का उपाय क्या है।

उत्तर–जैसे पुरुष सूर्य्य के सन्मुख होता है तो उसकी छाया उसके सन्मुख नहीं होती, और जो सूर्य्य की तरफ़ पींठ करे तो छाया सन्मुख आ जाती है यदि वृत्ति स्वरूप के सन्मुख रहे तो शरीर अध्यास जो छाया की तरह है

सन्मुख नहीं रहता और जो वृति स्वरूप का विस्मरण करा देवे तो शरीर अध्यास सन्मुख रहता है, अथवा जैसे शराब का नशा खटाई आदि से उतर जाता है उसी प्रकार वैराग्य तथा ज्ञान आदि द्वारा आत्मा में से अविद्या और उसके कार्य्य हट कर आरोप का अपवाद हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप से प्रकाशित होता है देह अध्यास की निवृत्ति के लिऐ तीव्र वैराग्य की आवश्यकता है ।

प्रश्न १३—संसार और परमात्मा में कितना भेद है।

उत्तर—संसार और परमात्मा में इतना भेद है कि देह अभिमान के साथ जो मन का फुरना है सो संसार है और देहाभिमान से रहित जो मनका फुरना है सो परमात्मा है । जिसको परमात्मा के दर्शन की अभिलाषा हो तो देह अभिमान का त्याग करके अर्थात् मैं शरीर हूँ यह ख्याल दूर करके अपने स्वरूप में स्थित होवे। दूसरा अर्थ यह भी है कि संसार और परमात्मा में इतना भेद है कि जितना शब्द और अर्थ में। तात्पर्य यह है कि संसार शब्द है और परमात्मा अर्थ है, शब्द प्रत्यक्ष ज्ञात होता है और अर्थ प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता—इसी से अज्ञानी

मनुष्य शब्द पर मोहित हैं, और विचारशील पुरुष शब्द को त्याग कर अर्थ में स्थित रहते हैं, वास्तव में शब्द और अर्थ एक रूप हैं शब्द से अर्थ प्राप्त होता है और शब्द के साथ एक रूप होकर अभिन्न रहता है विवेकी जन शब्द को विचार कर अर्थ को ग्रहण करते हैं। और शब्द को केवल कल्पित जान कर भूल जाते हैं अर्थात् उसकी सत्ता निश्चय नहीं करते।

प्रश्न १४–जब यह दो वस्तु हैं नहीं तो दीखती क्यों हैं।

उत्तर–ब्रह्म और जगत दो वस्तु नहीं हैं। संसार की दशा में जब परब्रह्म का भान नहीं होता तब उस अधिष्ठान में अध्यस्त ऐसे जगत का भान होता है, और जगत की अनेकता और तू मैं, आदि का व्यवहार पृथक २ प्रतीत होने लग जाता है और जब उस अज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश हो जाता है तब एक ब्रह्म तत्व शेष रह जाता है। विद्वान पुरुष संसार में रहते हुऐ भी ब्रह्मतत्त्व को जानते हैं और अज्ञानी मनुष्य नहीं जानते। अनुमान से जो समझ में आ जावे उतना ही वह जान पाते हैं, अनुमान यह है कि यह संसार बहुत बड़ा है इसका

रचियता कोई अवश्य है परन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं होत
उनको जगत ही प्रत्यक्ष होता है आवरण शक्ति ही उ
मनुष्यों को सतवस्तु का साक्षात् नहीं होने देती इसी
दो दीखते हैं।

प्रश्न १५–आवरण और विक्षेप शक्ति के क
स्वरूप हैं।

उत्तर–बुद्धि की वृत्तियां आत्मा के अबोध का
में अविद्या में जब लय होती हैं तब आवरण श
कही जाती हैं। आवरण शक्ति का स्पष्ट स्वरूप सुषु
की दशा में ज्ञात होता है क्योंकि वहां भेद नहीं हो
और इसी कारण से दुःख भी नहीं होता और बुद्धि
वृत्तियां आत्मा के अबोधकाल में भिन्न२ पदार्थों में जो प्र
हैं अथवा दौड़ लगा रही है और उस दौड़ में जो प
श्रम होता है बस यही विक्षेप है।

प्रश्न १६–ईश्वर जीव माया यह तीं
अनादि होने से नित्य हैं तो जगत की उत्पत्ति कै
हुई।

उत्तर–जब तीनों अनादि और नित्य हैं तो ज
की उत्पत्ति नहीं बन सकती। अनादि पद का अर्थ

है कि जो वस्तु उत्पत्ति और आदि से रहित हो सो अनादि शब्द का अर्थ है जब तीनों ही उत्पत्ति से रहित हैं तो किससे किसकी उत्पत्ति मानें, इसलिये जगत उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न ही नहीं हुआ तो उसका स्वरूप ही क्या कहें इस प्रकार जगत न ईश्वर रूप है न जीव रूप है और न प्रकृति रूप है। यह तीनों भी अनादि रूप होने से एक स्वरुप हैं। इससे न कुछ उत्पन्न हुआ और न कुछ नाश होता है। सत अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है। उस सत् वस्तु के विशेषण अर्थात् नाम हैं, सो तीनों एक रुप हैं जैसे सत चित्त आनन्द अद्वैत वस्तु के यह तीन विशेषण हैं उसी प्रकार ईश्वर जीव प्रकृति यह अद्वैत वस्तु के विशेषण हैं। ईश्वर सत रूप है जीव चित्त रूप है प्रकृति आनन्द रुप है इसलिये ईश्वर जीव प्रकृति सतचित् आनन्द रुप है और तीनों परस्पर मिले हुए अभेद रुप हैं जैसे कि अग्नि के तीन विशेषण हैं दाह गर्मी तथा प्रकाश यह तीनों अभेद रुप हैं उसी प्रकार अद्वैत अनादि के यह तीनों विशेषण हैं यद्यपि तीनों के नाम में भेद है तथापि उनकी सत्ता एक है जैसे सतरूप ईश्वर चैतन्य रूप जीव और आनन्द रूप

प्रकृति अद्वैत वस्तु के विशेषण हैं तथापि उनके नाम
भेद है। परन्तु इनकी सत्ता एक है क्योंकि अद्वैत व
के विशेषण भी अद्वैत रूप होजाते हैं। इस रीति से न
कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ किसी ने अपना स्व
बदला है और न किसी का नाम होता है। अद्वैत स
आप में आप स्थित है।

प्रश्न १७—जड़ और चैतन्य में क्या भेद
क्या यह दो वस्तु हैं।

उत्तर—यह दो वस्तु नहीं। और न जड़ चेतन में भेद
यह दुन्यावी मनुष्यों ने पदार्थों के दो भेद माने हैं
और चैतन्य दोनों के नाम और रूप अवश्य होते हैं ना
व्यवहार के निमित्त काल्पनिक हैं और रूप व्यवहार
आकृति है जिसको मनुष्य चैतन्य कहते हैं वह तो ब
सूक्ष्म है तथापि उसकी आकृति गुण आदि को ले
अथवा स्थूल को ग्रहण करके होती है विशेषता
चैतन्य का भान होने से प्राणधारी को चैतन्य बोल
हैं। अर्थात् जिसमें चिदाभास की विशेष प्रतीत
संसारी लोग उसे ही चैतन्य कहते हैं। और सामान्
चैतन्य जो सबका अधिष्ठान है उसको तो संसारी म

ध्य नहीं जानते तात्पर्य यह है कि सघन चैतन्य का नाम जड़ है जैसे हमारी सघन सुषुप्ति और सम्वेग चैतन्य का नाम चैतन्यता है (दूसरे शब्दों में यह कहो कि सामान्य चैतन्य और विशेष चैतन्य) इससे यह सिद्ध हुवा कि संवेग चैतन्य जो कि विशेष चैतन्य है सघन चैतन्य के आश्रय रहता है जैसे हमारी सुषुप्ति के आश्रय संवेग चैतन्य स्वप्न रहता है और अनुभव में भी आता है और दृष्टान्त के बल से सुषुप्ति और स्वप्न के विचार करने से बात बुद्धि में बैठ जाती है तो संवेग चैतन्यता (जो विशेष चैतन्य है) सघन चैतन्यता रूप हुई (अर्थात् सामान्य चैतन्यता रूप हुई) जैसे स्वप्न क्या हुवा सुषुप्तिरूप हुवा, जो सघन चैतन्यरूप है तो क्या सुषुप्ति जड़ हुई ? नहीं, यदि जड़ मानें तो उस जड़ में से स्वप्न तथा जाग्रत नहीं निकल सकते। इस लिए वह सघन चैतन्य सुषुप्ति जड़ नहीं वरन् सघन चैतन्य है। जैसे शरीर सघन चैतन्य रूप है उसकी अपेक्षा करके इन्द्रियां सम्वेग चैतन्य रूप हैं परन्तु इन्द्रियां स्थूल शरीर के आश्रय रहती हैं तो इन्द्रियां स्थूल रूप हुईं इसी प्रकार इन्द्रियां सघन चैतन्य रूप हैं और प्राण सम्वेग चैतन्य रूप हैं सघन चैतन्यरूप जो इन्द्रियां हैं उसके आश्रय

स्थित हैं इस लिए प्राण इन्द्रिय रुप हैं, फिर प्राण सघ
चैतन्यरुप है और अन्तःकरण सम्वेग चैतन्यरुप है परन्
अन्तःकरण प्राण के आश्रय स्थित है क्योंकि अन्तःकर
की रचा प्राण करके होती है प्राण के बिना अन्तःकर
कुछ नहीं कर सकता। इसलिऐ अन्तःकरण प्राण स्वरु
हुवा फिर अन्तःकरण सघन चैतन्य रुप है और चिद
भास अन्तःकरण के आश्रय स्थित है क्योंकि अन्तःकर
के बिना चिदाभास सिद्ध नहीं होता . इसलिऐ चिदाभा
अन्तःकरणरुप है और चिदाभास कूटस्थरुप शुद्ध चैतन
का प्रकाश है। इसलिऐ एक ही शुद्ध चैतन्य सघन तथ
सम्वेग अर्थात जड़ चैतन्यरुप को धार कर स्वयं महिम
में स्थित है दूसरा न कोई जड़ और न कोई चैतन्य है
इस प्रकार से जड़ और चैतन्य में कोई भेद नहीं है कि
अभेद है यही ज्ञान यथार्थ है ?

प्रश्न १८—जीव एक है अथवा अनेक।

उत्तर—जीव अनेक नहीं ज्ञानी की मुक्ति औ
अज्ञानी का बन्धन जब माने जब जीव अनेक हों औ
जीव ईश्वर का वास्तविक भेद हो—और जो जब ईश्व
का कल्पित भेद मानें और जीव भी एक मानें तो ज्ञान

अज्ञानी का विवेक नहीं बन सकता । भला कैसे देखो एकता उस वस्तु की होती है जो प्रथम एक रूप हो जब जीव को प्रथम ईश्वर से भिन्न मानें और ज्ञान अथवा योग के बल से ईश्वर के साथ एकता मानें तो यह एक्यता यथार्थ नहीं क्योंकि ज्ञान के नाश हुए अथवा योग के विपर्य्य हुए एकता नाश हो जायेगी इससे तो वेदान्त का सिद्धान्त ही खण्डित हो जायगा । इससे सिद्ध होता है कि जीव और ईश्वर की एकता नहीं करनी किन्तु एक्यता के ज्ञान को प्राप्त करना है । वास्तव में देखो तो ईश्वर ही जीव रुप है और जीव ही ईश्वर रुप है जैसे सूर्य ही दृश्य रुप है और दृश्य ही सूर्य रुप है इससे एक ही वस्तु ज्यों की त्यों समान रुप है जो अज्ञान करके भेद मानें और ज्ञान करके अभेद मानें और फिर ज्ञानी की मुक्ति मानें और अज्ञानी को बन्ध मानें तो अद्वैतवाद की हंसी करनी होगी ।

प्रश्न १९—दृष्टा, दृष्य, तथा दर्शन त्रिपुटी का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—दृष्टा अस्तिरुप है दर्शन भाति रुप है और दृश्य प्रिय रुप है, क्योंकि प्रिय वस्तु का नाम

पूछा जाता है और याद रक्खा जाता है इसलिए नाम रुप दृश्य प्रियरुप है, इसी प्रकार से त्रिपुटी अस्ति भाति प्रिय रुप है दूसरी कोई वस्तु नहीं इसीलिये यह त्रिपुटी जगत रुप है और जगत ही अस्ति भाति तथा प्रियरुप है अस्ति-भाति प्रिय के बिना दूसरी वस्तु न थी. और न है और न होगी-इस दृष्टि का नाम ज्ञान है इसके अतिरिक्त समस्त नाम रुप जगत कपोलकल्पित है।

प्रश्न २०-संसार का स्वरुप क्या है ? उसका निवास कहां है। उससे पार होने का उपाय क्या है

उत्तर-जगत का स्वरुप अज्ञानियों का शब्द है और जगत का निवास भी अज्ञानियों का हृदय कोट है, इसलिए अज्ञानियों के संग से और शब्द से रहित होना ही मानों जगत से पार होना है केवल ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु के शब्द को यथार्थ जानकर उस पर निश्चय करना और समस्त शब्दों को श्वान के शब्दों की तरह जानकर चित्त से निकालना और किसी की निन्दा स्तुति की तरफ अपनी वृत्ति को न लगाना अर्थात् ध्यान न देना किन्तु समस्त प्रपंच के लोगों को मृतकवत् जानना, और ब्रह्मवेत्ता गुरु के शब्दों का निश्चय करना। जैसे मृतक भूत

होकर पीछे से शब्द करते हैं उसी प्रकार संसारी—भूत की तरह पीछे से चिपटते हैं। भूत को कोई उत्तर नहीं देता यदि कोई उत्तर देवे तथा उनसे प्रश्न करे तो भूत बहुत दुख देता है उसी प्रकार संसारी मनुष्यों के शब्द पर विश्वास करना मानों दुःख भोगना है, और उनके शब्दों को भूत के शब्दों की तरह जानकर उनसे अज्ञात रहना मानों संसार से पार जाना है। इसलिए जिज्ञासुओं को उचित है कि जो अपनी रक्षा के निमित्त पूर्व युक्ति वाले मन्त्र को हृदय में धारण करके शब्द मात्र जगत् से असङ्ग रहे और संसार के स्वरूप का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि संसार नाम संसरने का है, संसरना कहते हैं चलने को और चलना मन से होता है और मन कहते हैं मनन को—मन जैसी कल्पना करता है कल्पना के पदार्थ दीखते हैं परन्तु हैं नहीं-इससे संसार कोई स्थूल पदार्थ नहीं है सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और इसका सम्बन्ध चित्त के साथ सदैव बना रहता है मानों चित्त और संसार एक ही वस्तु के दो नाम हैं। जब चित्त शरीर के अन्दर चिन्तवन करता है तब चित्त कहा जाता है और जब इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलता है

तब अपने रचे हुऐ पदार्थों को अपनी चिन्तवन
अनुसार देखता है तभी संसार कहा जाता है इससे सि
हुवा कि चित्त ही संसार रूप है और चित्त ही चैतन्य
है क्योंकि चित्त का अर्थ चिंतन है जब चित्त नानापने
चिंतवना को त्याग कर एकता का चिंतन करता है उ
समय चित्त अंदर ही स्थिर रहकर एकाग्र होजाता है औ
आनन्द का अनुभव करता है और इन्द्रियों द्वारा बा
निकल कर अनेकता का चित्त दर्शन करता है क्यों
जितना पसारा है तमाम चित्त तथा मन का है, जब चि
में अनेकता का भाव स्थिर होता है तब अनेकता को
खता है और जब एकता स्थिर होती है तब एकता
देखता है क्योंकि इस संसार में तमाम कार्य चित्त त
मन के आश्रय से सिद्ध होते हैं। जैसा २ चिंतवन हो
है वा मनन होता है तैसा २ ही फल भी होता है। जि
मनुष्य को व्यवहार के वचनों का दृढ़ मनन होता है उ
व्यवहार फलीभूत होकर प्रिय प्रतीत होता है और जि
पुरुष को परमार्थ के वचनों का मनन है उसको सद्गु
सत्शास्त्र और सत्सङ्ग फलीभूत होकर प्रिय प्रतीत हो
है। व्यवहार का फल मन की चञ्चलता, विक्षिप्तता त

अशांति है तथा परमार्थ का फल चित्त की एकाग्रता और शांति है इससे उचित है कि सब समय अपने चित्त को एकाग्र करें।

ऐसा पुरुष सबका पूज्य होताहै और उस एकाग्रता का सहज उपाय सत्संग सत्शास्त्र विचार है जो मनुष्य श्रद्धा पूर्वक प्रति दिन इन दो साधनों का अभ्यास करता है और मनन निद्धयासन करके उसके आश्रय को अपना चित्त बना लेता है सो पुरुष परमानन्द को प्राप्त होता है, तीसरा अर्थ यह भी है कि यह मन ही द्वैत भाव की कल्पना करता है और फिर कल्पना के पदार्थ दीखते हैं और पदार्थों में क्रिया भी प्रतीत होती है परन्तु यह सब मन स्वरूप ही है मनको छोड़कर समस्त पदार्थ और उसकी क्रिया दूसरी कोई नहीं है। इसी प्रकार यह समस्त सृष्टि परब्रह्म स्वरूप ही है। जैसे एक कपड़े पर मनुष्य पशु पक्षी मार्ग वन आदि के चित्र निकाले गऐ हों और वह विचित्र रूप से दीखते हुऐ भी वस्त्र रूप ही होते हैं इसी प्रकार तमाम जगत परब्रह्म स्वरूप ही है इसीलिऐ नाम रूप ही सृष्टि है। और नाम का आधार अर्थात् अधिष्ठान परब्रह्म है। यह नाम रूप वाला संसार परब्रह्म में अध्यस्त

है अधिष्ठान से अध्यस्त की सत्ता न्यारी नहीं होती इ
अध्यस्त दीखता हुआ भी वस्तुरूप से अधिष्ठान रूप
होता है समस्त संसार नाम और रूपों की विशेषता
भरा पड़ा है संसार और संसार के पदार्थों में कोई व
नाम रूप के बिना नहीं है मायिक संसार की जितनी
रचना है वह समस्त रूप के अन्तर्गत है नाम चाहे स्थू
हो सूक्ष्म हो प्रत्यक्ष हो अप्रत्यक्ष हो और चाहे अनुमा
हो मायिक नाम रूप से ही संसार की सिद्धि है जब ना
रूप को हटा दिया जाता है तब जिसमें नाम रूप
प्रतीत होती थी वह पदार्थ नहीं रहता उसका आधा
शेष रहता है- समस्त जगत में दो वस्तु हैं एक तो सत
दूसरी असत् माया जबतक संसारी दृष्टि रहती
अर्थात् अपने को नाम रूप वर्ण आश्रम वाला जन्म
मरने वाला पिता पुत्रादिक रूप से जानता है उस दृष्टि
करके दो नहीं दीखते क्योंकि दो एक कक्षा में नहीं
देखने वाला जीव संसार की दृष्टि से देखता है उसको
संसार का मायिक नाम तथा रूप ही प्रतीत होता
और उसी के लिये वह प्राप्त करने की कोशिश करता
रहता है और उसमें फंसकर नाना प्रकार के क्लेशों को

प्राप्त होता है ज्ञान में नाम रूप तुच्छ होता है और अज्ञान में न जानने के कारण से परब्रह्म तुच्छ होता है परब्रह्म का अर्थात् साक्षी अविछिन्न चैतन्य का भान परब्रह्म रूप से न होना और अपने को नाम रूप वाला समझना बस यही तो संसार है अर्थात् नाम रूप वाले संसार में स्थिति होना ही संसार है और नाम रूप का बाध करके उसका आधार सच्चिदानन्द में हूं इस प्रकार से ठहरना परब्रह्म स्वरूप है ऐसी स्थित वाले को आनन्द ही आनन्द है और आनन्द में निरन्तर मग्न रहता है काल को शान्ति सहित विताता है वह देह में रहता हुआ भी विदेह है और मनुष्य होता हुआ भी परब्रह्म स्वरूप है।

प्रश्न २१—कोई जगत् को स्वप्न कोई पांच तत्वों का खेल, कोई गुणों का पसारा और कोई चित्त का विलास कहता है इसे समझाओ।

उत्तर—सब की बात यथार्थ है जो मनुष्य कहते हैं कि जगत स्वप्न रूप है उनका आशय यह है कि स्वप्न २ दृष्टा का संकल्प है और स्वप्न दृष्टा के आश्रय सिद्ध होता है इससे स्वप्न दृष्टा का स्वरूप है और स्वप्न दृष्टा चैतन्य है इसलिये जगत चैतन्य रूप है चैतन्य से

इतर कुछ नहीं दूसरे मनुष्य जो जगत को तत्वों
खेल मानते हैं उनके कथन का यह आशय है कि ज
पांच तत्वरुप है और वह पांच तत्व चैतन्य का वि
पण है अर्थात् उसका स्वभाव है चैतन्य का पूर्ण स्व
आकाश है और स्फुरन स्वभाव वायु है और चैत
का प्रकाश स्वरुप अग्नि है और द्रव स्वभाव जल है
चैतन्य का स्थिर स्वभाव पृथ्वी है इसलिये यह पांच
नहीं किन्तु एक ही चैतन्य पूर्ण स्फुरण स्वयं प्र
आत्मा स्थित रुप है इसलिये जगत प्रपंच भौतिक श
का आशय भी यही है कि जगत चैतन्य रुप है क्यों
चैतन्य का खेल भी चैतन्य रुप होता है और जो मनु
जगत को तीनों गुणों का पसारा कहते हैं उनका अभि
यह है कि ३ गुण चैतन्य की ३ शक्तियां हैं प्रथम श
प्रज्ञा है जो कि सतोगुण के नाम से लोक में प्रसिद्ध
और दूसरी क्रियाशक्ति जो रजोगुण के नाम से प्रसिद्ध
और तीसरी जड़ शक्ति जो तमोगुण के नाम से प्रसि
है यह तीनों शक्तियां नित्य ही शक्तिमान के साथ र
हैं इसीसे यह तीनों गुण शक्तिमान का स्वरुप हैं
वह शक्तिमान चैतन्य है इसलिये तीनों गुण चैतन्यरु
क्योंकि शक्ति शक्तिमान से त्याग का नहीं नहीं र

सदा शक्तिमान के विषय रहती है इसी से वह शक्ति शक्तिमान का स्वरुप है और जो लोग जगत को चित्त विलास कहते हैं उनका आशय यह है कि अपनी स्फुरन शक्ति करके नानारुप हो रहा है इसलिये तमाम ही चैतन्य रुप है क्योंकि चैतन्य से इतर चैतन्य का स्फुरण नहीं हो सकता सो स्फुरन और चैतन्य पर्य्याय वाची शब्द हैं इसलिये जगत चैतन्य की स्फुरण शक्ति है सो चैतन्य रुप है चैतन्य से अतिरिक्त दूसरी वस्तु कुछ नहो-इसलिये चित्त विलास वादी का भी यही प्रयोजन है कि जगत चैतन्य रुप है। और यदि यह कहो कि जगत चैतन्य है तो विकारी क्यों होता है अर्थात् परणामि क्यों होता है तो इसका उत्तर यह है कि विकारी नहीं होता आप में आप स्थित है आज तक कोई भी वस्तु आपको त्यागकर दूसरे भाव को प्राप्त नहीं हुई विकारी जब मानें जब चैतन्य अचैतन्य गति को प्राप्त हो गया हो जब चैतन्य आप में आप स्थित है और कदाचित भी अपने स्वभाव को त्याग नहीं सकता तो बताओ विकारी किस प्रकार से मानें यदि यथार्थ दृष्टि से देखो तो विकारी वस्तु उसका श्रृंगार है जैसे वीर्य्य का विकार जो शरीर है सो वीर्य्य का श्रृंगार है।

जैसे जल का विकार तरंग है सो जल का श्रंगार में
इसी प्रकार समस्त पदार्थों की महिमा पदार्थों में निके
प्रति रहती है महिमा के प्रगट होने में अथवा लोप होरूप
में वस्तु की न्यूनता और विशेपता नहीं होती। जैसे कोई
मनुष्य अपने हाथ को फैलाए तो भी मनुष्य है और हाथ
को संकोच करे तो भी मनुष्य है इसलिये जो मनुष्य जगत
विषय पृथक २ अवस्था को देखकर जगत् को विकारी अन
परिणामी मानते हैं उनको जगत् और जगत् के पदार्थवि
का यथार्थ ज्ञान नहीं है। वह अज्ञान के राजा हैं। औ

प्रश्न २२—जो २ कर्म होते हैं वह ईश्वर की
इच्छा से होते हैं या इन्द्रियां करती हैं परन्तु इन्द्रियां जड़ हैं
चैतन्य के बिना क्रिया नहीं कर सकतीं।

उत्तर—पहिले विचार करना चाहिऐ कि कर्म किसका
कहते हैं और किस प्रकार हो रहे हैं और किससे हो रहे
हैं और उनका प्रकाश करने वाला कौन है जब इन बातों
का निर्णय हो तब तुमको ज्ञात हो जायगा। और तुम्हारे
समस्त संशयों की निवृति हो जायगी देखो पांच तत्वों
के स्वभाव का नाम कर्म है अर्थात् एक २ तत्व ही
सतोगुण रुप में ज्ञान, रजोगुण रुप में कर्म होकर क्रिया ही
करते हैं। और तमोगुण रुप होकर मनुष्य को व्यर्थ चेष्टा

रमें डालते हैं अर्थात् व्यर्थ आयु जाती है। प्रत्येक तत्व
नके दो २ स्वरुप हैं एक समष्टि स्वरुप दूसरा व्यष्टि स्व-
होंरूप समष्टि स्वरुप में तो कर्ता कर्म तथा क्रिया का अभाव
कहैं अर्थात् क्रिया से रहित जड़ रुप है और व्यष्टि स्वरुप
हामें कर्ता कर्म तथा क्रिया रुप होकर भिन्न २ कर्मों के करता हैं
नगतात्पर्य यह है कि विराट विषय जड़ पना अर्थात् अकर्ता
ीपना सिद्ध है और कार्य स्वरुप अर्थात् व्यष्टि स्वरुप
ार्थविषय एक एक तत्व दो दो इन्द्रिय रुप होकर अपने ज्ञान
और कर्मों को प्रगट करते हैं जैसे आकाश शब्द स्वरुप
हैं और वह श्रोत इन्द्रिय के स्वरूप में शब्द का श्रवण करता
ड़है और वाक् इन्द्रिय के स्वरुप में शब्द का उच्चारण करता
है इससे यह सिद्ध हुवा कि आकाश ही शब्द है और
केआकाश ही श्रोत इन्द्रिय है और आकाश ही शब्द को
रहेसुनने वाला और आकाश ही शब्द को बोलने वाला
तोहै। इसी प्रकार वायु को लो कि वायु स्पर्श रुप है और
ारत्वचा इन्द्रिय रुप होकर स्पर्श का प्रतीत करता है और
ोहाथ इन्द्रिय रुप होकर वस्तु को छूता है इसलिये वायु
त्वही स्पर्श है और वायु ही स्पर्श का ज्ञाता है और वायु
ाही स्पर्श करने वाला है अर्थात् वायु ही स्पर्श है,
ा वायु ही त्वचा है और वायु ही हाथ है। इसी प्रकार

अग्नि की मीमांसा करो-अग्नि ही नेत्र रूप होकर स्व
को देखता है और पैर इन्द्रिय होकर रूप को दिखाता व
इसलिये अग्नि ही रूप है अग्नि ही नेत्र हैं और अग्नि अ
पैर हैं इसी प्रकार जल तत्व की मीमांसा करो जो रस
है जिव्हा रूप होकर रस को ग्रहण करता है और उप
इन्द्रिय होकर रस को भोगने वाला है इसलिये जल ही
है और जल ही रस का ज्ञाता है और जल ही भो
वाला है अर्थात् जल ही जल है इसी प्रकार पृथ्वी
मीमांसा करो जो गन्ध रूप है जो नासिका इन्द्रिय हो
गन्ध को प्रतीत करती है और गुदा इन्द्रिय रूप हो
गन्ध का त्याग करती है। इसलिये पृथ्वी ही गन्ध है
और पृथ्वी ही गन्ध को ग्रहण करने वाली तथा त्याग
वाली है अर्थात् पृथ्वी ही गन्ध है पृथ्वी ही नाक है पृ
ही गुदा है इससे सिद्ध हुवा कि पांच तत्व ईश्वर के
भाव हैं इसलिए एक ही ईश्वर अपने आप में स्थित है

न कोई कर्ता है न कर्म है न क्रिया है जब कर्म ही अ
है तो कर्म का ईश्वर की इच्छा से होना किस कारण
निश्चय कियाजावे अर्थात् जब कर्म ही नहीं तो कर्म की प्र
कैसे हो और यह जो संसार में कर्मों का विभाग प्रसिद्ध
अर्थात् कोई कर्म शुभ है और कोई अशुभ है यह यथ

स्वरूप के अज्ञान से हैं जो कुछ भी अज्ञान में होता है वह अत्यन्त ही कल्पित अत्यन्त मिथ्या अत्यन्त ही अभाव रूप होता है इस लिये तत्ववेत्ता ईश्वर को कर्म की उपाधि से शुद्ध निश्चय करके अक्रिय पद में स्थित रहते हैं अब जो कर्म इन्द्रिय आदि से माने जावें और ईश्वर की चैतन्यता से उन कर्मों की प्रेरणा निश्चय की जावे तो भी ईश्वर कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। जैसे सूर्य के प्रकाश से समस्त चक्षु देखते हैं परन्तु सूर्य्य देखने वाला नहीं माना जाता उसी प्रकार इन्द्रिय और अन्तःकरण ईश्वर की चैतन्यता से कर्म करते हैं तो भी ईश्वर कर्मों का कर्ता नहीं माना जा सकता। जहां द्वैत होता है वहां कर्ता कर्म और क्रिया की भी कल्पना की जाती है और जहां केवल अद्वैत मात्र हो वहां कर्ता कर्म और क्रिया रूप त्रिपुटी किस कारण से मानी जावे ? ईश्वर अद्वैत रूप है दूसरा न था न है और न होगा इसलिये ईश्वर में कर्म और क्रिया आदि त्रिपुटी प्रतीत करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। जो विचार करके देखो तो आज तक कोई कर्म नहीं हुआ। एक वस्तु स्वस्त है केवल परिछिन्न ज्ञान अर्थात् देह अभिमान से भिन्न भिन्न कर्म और उनके फल अज्ञानी को प्रतीत हो रहे हैं, और अज्ञानी की

प्रतीती कल्पित और मिथ्या है प्रमाण के योग नहीं कल्पित और मिथ्या वस्तु को यथार्थ और सत् वस्तु समता करना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है । सुषुप्ति अवस्था में तमाम कर्म और इन्द्रियें अज्ञान में लीन हो जाते और ईश्वर स्थित रहता है । यदि ईश्वर कर्मों का कर्ता होता तो सुषुप्ति अवस्था में भी कोई कर्म प्रतीत होता सुषुप्ति अवस्था में कोई कर्म प्रतीत नहीं होता इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर कोई कर्म का कर्ता नहीं और न कोई कर्म हो रहा है अज्ञान में कर्ता कर्म और क्रिया की प्रतीती होती है सो अज्ञान केवल अज्ञान मात्र है और अज्ञान का कार्य अज्ञान पर्यन्त है जब अज्ञान यथार्थ ज्ञान से निवृत हो जाता है तब अज्ञान का कार्य कर्ता कर्म और क्रिया रूप जो त्रिपुटी है निवृत हो जाती है वैसे तो प्रथम से ही निवृत थी अज्ञान करके प्रवृत रूप प्रतीत होती थी जब यथार्थ ज्ञान के आश्रय सिद्ध हुआ जो अज्ञान आप ही कोई वस्तु नहीं तो ईश्वर को जो सत्स्वरूप है किस प्रकार विकारी कर सकता है इसलिये कर्ता कर्म तथा क्रिया का अत्यन्त अभाव है अद्वैत वस्तु आपमें आप स्थित है ; अब प्रश्न यह होता है कि जब वस्तु ज्यों की त्यों है न कुछ हो रहा है न कोई कर

रहा है तो फिर ज्ञानी अज्ञानी में कोई भेद नहीं तो फिर शुभ पुरुषार्थ करना व्यर्थ है इसका उत्तर यह है कि देखो शरीर और शरीर की चेष्टा और चेष्टा के फल में ज्ञानी तथा अज्ञानी में कोई भेद नहीं विचार करके देखा जाये तो शरीर दोनों के एक हैं दृष्टा के दोष कर के अनेक प्रतीत होते हैं। वास्तव करके एक ही ज्ञान और एक ही कर्म शरीरों में व्यापक होकर प्रवृत्त है जैसे एक ही आकाश का कार्य जो श्रोत इन्द्रिय है तमाम शरीरों में एक है और उसका जो स्वभाव श्रवण करना है सो भी एक है। एक ही वायु का कार्य जो त्वचा इन्द्रिय है तमाम शरीरों में एक है और उसका स्वभाव जो स्पर्श करना है सो भी एक है एक ही अग्नि का कार्य जो चक्षु इन्द्रिय है सो भी तमाम शरीरों में एक है और स्वभाव जो देखना सो भी एक है। एक ही जल का कार्य जो रसना इन्द्रिय है सो भी तमाम शरीरों में एक है और उसका स्वभाव जो रस का ग्रहण करना सो भी एक है एक ही पृथ्वी का कार्य जो नासिका इन्द्रिय है सो तमाम शरीरों में एक है और उसका स्वभाव जो गन्ध को ग्रहण करना सो भी एक है इसी प्रकार दूसरे इन्द्रिय भी एक एक तत्व का कार्य होने से

तमाम शरीरों में समान स्वभाव वाले हैं, इसलिये श
एक है नाना नहीं–यह यथार्थ ज्ञान है और इस
का जो ज्ञान है सो अनेकता से मुक्त होकर सहज
भाव विषय स्थित रहता है।

जो इस ज्ञान को त्याग कर अनेकता का अनु
करके भेद को सत् मानता है वह सदा विक्षिप्त, अशा
तथा दुखी रहता है इस लिये ज्ञानी और अज्ञानी
ज्ञान तथा अज्ञान का भेद है सो ज्ञान और अज्ञान
इन तत्वों का कार्य है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान बु
के आश्रय रहते हैं और बुद्धि मिश्रित तत्वों का
है, सतोगुणी बुद्धि में तमाम संसार की वस्तुओं
यथार्थ प्रतिबिम्ब जो कि अत्यन्त ही शुद्ध और स
भाग है तत्वों का पड़ता है। इस यथार्थ प्रतिबिम्ब
ज्ञान कहते हैं और विपर्य प्रतिबिम्ब को अज्ञान कहते
इसलिये प्रतिबिम्ब स्वरूप ज्ञान अथवा अज्ञान और द
एक ही है इससे ज्ञान तथा अज्ञान एक रूप हैं। वि
लता और मलीनता एक वस्तु दो संज्ञा करके संज्ञा
हो रही हैं, यथार्थ दृष्टि करके देखो तो अद्वैत
आप में आप स्थित है ज्ञानी अज्ञानी का कोई
नहीं।

जो ज्ञान हम कथन कर चुके हैं सो ज्ञान अज्ञान के भेद से रहित अद्वैत रूप है। उस ज्ञान की निर्मलता और मलीनता को अज्ञान बोलते हैं वास्तव में इन भावों से भी ज्ञान अपने अद्वैत भाव से विपर्य नहीं हुआ, किन्तु आप में आप स्थित है। ऐसी अवस्था में ज्ञानी अज्ञानी किसको माना जावे केवल ज्ञानमात्र सदा आप ही आप है। ऐसी दृष्टि धारण करने वाला तमाम द्वन्दों से रहित होकर सरमस्त रहे और निर्द्वन्द अभेद अचल और अखण्ड पद में स्थित होकर गोविन्द के गुण गावे। इसलिये जिज्ञासु को योग्य है कि ज्ञान अज्ञान से पार होकर यथार्थ स्वरूप में स्थित रहे जो सुख शान्ति निर्विकल्पता का हेतु है। तत्त्व दृष्टि और सम्यक ज्ञान भी इसी को कहते हैं सहज अवस्था जिसका फल है। इसलिये बोधवान यथार्थ को यथार्थ जानकर संशय और विकल्प से रहित होकर आनन्द पूर्वक काल को समाप्त करे और खुद मस्ती में मस्त रहे समदृष्टि बनाये रखे। ज्ञान करके किसी को विशेष अज्ञान करके किसी को न्यून न मानें। सत्ता सामान्य रूप होकर सबको आप और आपको सब किन्तु सर्व और आपसे रहित अनुभव मात्र रहे और सदा द्वैत से रहित हो

जगत में रहता हुआ जगत से उदासीन रहे।

प्रश्न २३—प्रयत्न अपने आधीन है या प्रारब्ध या ईश्वर आधीन है ?

उत्तर—प्रयत्न अपने आधीन है प्रारब्ध और ईश्वर भी अपने से भिन्न नहीं क्योंकि प्रारब्ध पूर्व जन्म के कर्मों का नाम है और पूर्व कर्मों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ है और जीवात्मा करके प्रारब्ध कर्मों का कर्तृत्व और भोक्तृत्व सिद्ध होता है प्रारब्ध आप कुछ नहीं कर सकता। जड़ होने से जो कुछ सिद्ध होता है चैतन्य का सिद्ध होता है सो चैतन्य अपना आप है इससे प्रारब्ध भी अपने आधीन है। ईश्वर सर्व का आत्मा होकर स्थित है और समस्त संसार की मर्यादा और प्रयत्न अर्थात् उत्पत्ति पालन तथा लय जीवात्मा होकर ही करता है जीव रूप का त्याग कर कोई कर्म अर्थात् प्रयत्न सिद्ध गति को प्राप्त नहीं होता इसलिये ईश्वर भी जीव रूप होकर कर्म के विषय प्रवृत्त होता है और वह जीवात्मा अपना आप है। इससे सिद्ध हुवा कि पुरुषार्थ अपने आधीन है क्योंकि ईश्वर जीवरूप होकर समस्त शरीरों में स्थित है और ईश्वर का प्रत्यन भी जीव द्वारा संसार में प्रसिद्ध हो रहा है और यदि जीव को ईश्वर से भिन्न

मानें तो भी ईश्वर जीव के कर्मों के अनुसार जीव को पुरुषार्थ करने में जोड़ता है क्योंकि कर्मों के बिना किसी को किसी भी प्रयत्न के विषय लगा कर सुख तथा दुख का फल नहीं देता। और वह कर्म जीव कृत है इसलिये जीव को अपने किये हुए कर्म ही ईश्वर को जीव के पुरुषार्थ का प्रेरक कहते हैं।

प्रश्न २४—किस युक्ति से जीव ईश्वर के सन्मुख हो सकता है ?

उत्तर—ध्यान से-अर्थात् ईश्वर जीव रूप से तमाम शरीरों में परिपूर्ण हो रहा है।

जब जीव दशों इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर अपने चित्त को निरोध करके ईश्वर की स्तुति करता है और स्तुति करते २ चित्त ईश्वर के स्वरूप में विलीन होजाता है उस समय जीव ईश्वर के सन्मुख होकर विराजता है। ध्यान की युक्ति यह है कि प्रथम विवेक योग से अर्थात् अपने को तीन शरीरों से पृथक निश्चय करे इस विचार से कि शरीर तो पंच तत्वों के रचे गए हैं और मैं जो जीवात्मा हूं तत्वों की रचना से अलग हूं, इस लिये मेरा सम्बन्ध किसी शरीर से नहीं है। इसी प्रकार नाम जाति वर्ण आश्रम से भी मैं रहित हूं, क्योंकि यह

समस्त शरीर की उत्पत्ति के पश्चात् कल्पित करके र
गये हैं, और फिर शरीर के होते भी अनेक बार वि
होते हैं, और मैं अनादि स्वयं प्रकाश सत्तामात्र हूं, कि
प्रकार से विपर्य्यभाव को प्राप्त नहीं होता, इसलिये न
जाति वर्ण आश्रम से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं फिर आ
मन से भी प्रथक करे इस विचार से कि मन तो सदा सं
विकल्प करता रहता है और राग द्वेष करके दुखों
सहता रहता है मैं जो चैतन्य हूं जो इसकी सम
अवस्थाओं को जानता हूं इसी प्रकार जाग्रत स्वप्न
सुषुप्ति अवस्था में भी मैं पृथक हूं, जब इस प्रकार
जीव आपको केवल सत्तामात्र चैतन्य स्वरूप सम
विकारों से रहित शुद्ध और सर्व कर्मों से रहित नि
करता है उस समय ईश्वर के सन्मुख हो सकता
क्योंकि ईश्वर भी शुद्ध निर्विकार और कर्मों की क
से रहित है दूसरा साधन और भी है। भक्ति योग से
जब नवधा भक्ति के विषय चित्त को लगाता है
समय भी जीव ईश्वर के सन्मुख हो सकता है।

प्रश्न २५—ध्यान से सद्गुरु की मूर्ति का
होवे तो उपासना की सिद्धि होती है वा असिद्धि ?

उत्तर—उपासना की सिद्धि है क्योंकि अ

और उपासना का कारण सद्गुरु है जो अभ्यास के समय अपने हृदय कोट में ध्यान करने से सद्गुरु की मूर्ति आवे तो ध्यानी को निश्चय करना चाहिऐ कि अन्तःकरण से मल दूर हो रहा है अथवा यों कहो कि ध्यानी का मन निर्मल तथा शुद्ध हो गया है। सेवक को निश्चय करना चाहिये कि सद्गुरु की मूर्ति सद्गुण ब्रह्म की मूर्ति है इसलिये सद्गुरु का दर्शन सगुण ब्रह्म का दर्शन है इस दर्शन को पाकर रामदेव, धन्ना तथा मीराबाई आदिक भक्त संसार में प्रसिद्ध चले जाते हैं इसलिये सद्गुरु की मूर्ति का दर्शन अभ्यास और उपासना की सिद्धि का लक्षण। है जब आंख खोलते तथा बन्द करते समय गुरु का रूप प्रत्यक्ष दिखाई दे यहां तक कि वही स्वरुप बातचीत करने लगे और प्रश्नों का उत्तर मिलने लगे तो निश्चय कर लेना चाहिये कि उपासना की सिद्धि है असिद्धि नहीं।

प्रश्न २६—शरीर में किस स्वांस से ईश्वर का स्मरण अधिक से अधिक हो सकता है।

उत्तर—अपान से अर्थात् जब बाहर से स्वांस अन्दर की ओर आवे तब सो का उच्चारण होता है सो का अर्थ ईश्वर है, इस अपान वायु से निरन्तर ईश्वर

का भजन होता रहता हैं इसलिये जानना चाहिये
अपान के साथ मिलकर ईश्वर का स्मरण करता
और प्राण वायु के आश्रय अहं का उच्चारण होता
अहं का अर्थ जीव है अर्थात् वही ईश्वर जब शरीर
प्रवेश करता है तब वह ईश्वर जीव नाम से कहा जा
है इससे उचित है कि जीव अपने प्राण वायु के स
मिलकर ईश्वर को अपना आत्मा निश्चय करे।
रीति से प्राण और अपान में जो स्वतः सिद्ध शब्द
रहा है उस शब्द के विचार करने से ईश्वर की पूर्ण
स्मृति होती है। और जो शान्त पद की इच्छा हो
प्राण तथा अपान के मध्य में स्थित होकर स्वरूप
अनुभव करे अथवा जब प्राण बाहर गमन करे
अपान् बनकर अन्दर नहीं आया तब जो सम अवस
है उसको अनुभव करे। अथवा जब अपान अ
आया है और वह अपान प्राण रूप होकर बाहर
निकला तब जो सम अवस्था है उसको अनुभव
अथवा प्राण अपान को ब्रह्मरन्ध्र में रोक कर स्थिर
उसके पश्चात् जो सम अवस्था है उसको अनुभव
अथवा प्राण अपान को आगमापाई निश्चय करके
का साक्षी आपको निश्चय करे इस प्रकार से

स्थान पर आरुढ़ होने की इच्छा हो उसी पर आरुढ़ होकर ईश्वर के देश में पहुंचे। और सम्पूर्ण सन्देहों तथा संकल्प विकल्पों की अपने चित्त से निवृत्ति करे और स्वरुपावेश में लौलीन रहे।

प्रश्न २७—शास्त्रों में जो प्रार्थना अथवा उपासना को प्रसंग आया है इससे द्वैत सिद्ध होता है क्योंकि भेद में ही प्रार्थना तथा उपासना हो सकती है और शास्त्रकार तो अद्वैत ज्ञानी हुए हैं द्वैत का प्रतिपादन किस प्रकार कर गये?

उत्तर—बोधवान की दृष्टि में द्वैत भी अद्वैत रुप है अद्वैत के बिना द्वैत की सिद्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती जब अद्वैत ही अधिष्ठान है और द्वैत उसमें अध्यस्त हैं अर्थात् कल्पित है तो द्वैत की सत्ता मानने में कोई प्रमाण नहीं सिद्ध होता और कल्पित वस्तु सदा अधिष्ठान रुप ही होती है इसलिये द्वैत कल्पित है और अद्वैत अधिष्ठान हैं इसलिये द्वैत भी अद्वैत रुप है इस प्रकार से जिस मनुष्य को बोध हुआ है वह सर्व ही अद्वैत रुप देखता है। जैसे तरङ्ग जल के प्रति प्रार्थना करें कि हे जल! आप हमारे रक्षक हो तथा पालक हो क्योंकि आप हमारे आदि हो और आप ही हमारे अन्त

हो आप ही हमारे मध्य हो इसलिये हम कुछ नहीं स
कुछ आप ही हो।

अब बताओ इससे किस प्रकार द्वैत को अंगीका
किया जावे, क्योंकि तरंग जल स्वरूप है अर्थात् जल
तरंग रूप है और अपनी ही स्तुति या प्रार्थना स
सहित गायन कर रहा है उसी प्रकार जीव रूपी तरं
जब ब्रह्म को अपना आत्मा निश्चय करता है तब कह
है कि हे प्रभो आप हमारे रक्षक हैं आदि अन्त त
मध्य भी आप ही हैं हम कुछ नहीं सब कुछ आप ही
क्योंकि ब्रह्म से इतर दूसरी वस्तु का अभाव है जब ए
ही चैतन्य अपनी महिमा में परिपूर्ण है तो वही चैत
जीव रूप से उपासना करता है और उसको अप
उपास्य समझता है इसलिये आप ही अपनी प्रार्थना कर
प्रसन्न होता है। और आप ही अपने गुण गायन करके गद्
आनन्दित होता है और आप ही अपने भजन स्वर सहि
बोलकर अपनी महिमा तथा शक्ति को प्रगट करता
इससे द्वैत की सिद्धि किस प्रकार मानी जावे।

दूसरी युक्ति यह है कि जैसे पुरुष दर्पण में आपको देख
अपनी महिमा आप करता है अपने साथ आप प्रेम करता
और अपना शृङ्गार आप करके आप ही प्रसन्न होता

उसी प्रकार ज्ञानवान ज्ञानरूपी दर्पण में आपको आप देखकर अपनी महिमा गाता है और अपने विशेषणों को अनेक प्रकार के शब्दों और अलङ्कारों से विभूषित करके पढ़ता है और अपनी विस्तीर्ण शक्ति को आप ही स्मरण करके आनन्द मानता है और अपनी अविनाशी सुन्दरता का अनुभव करके अपने गीत आप गायन करता है आपको मैं मानकर अपने विस्तीर्ण रूप को तू करके बुलाता है मानो मैं ही तू का भेष धारण कर अपनी शोभा को आप खोलकर दिखाता है दूसरी वस्तु का अभाव है ।

तीसरी युक्ति यह है कि शरीर में किंचित विचार करके देखो तो विराट रूप परमात्मा ही शरीर का रक्षक है क्योंकि सर्व प्रकार करके शरीर का पालन पोषण विराट से होता है सो देह दृष्टि को लेकर विराट रूप परमात्मा की स्तुति तथा प्रार्थना करना उचित ही है और जब यह मनुष्य विराट का कार्य्य है क्योंकि विराट से उत्पन्न हुवा है और विराट का पुत्र है तो पुत्र को उचित है कि पिता की महिमा गायन करे, और गायन करके कृतघ्नता का जो दोष है वह निवृत करे यदि विचार दृष्टि से देखो तो पिता पुत्र में कुछ भेद नहीं। पुत्र पिता

का आत्मा ही है उसी प्रकार शरीर और विराट में प्यार
भेद नहीं शरीर विराट का आत्मा है यदि पुत्र पिता
की प्रार्थना करे तो पुत्र की इसमें विशेषता है न्यूनतास्तु
नहीं उसी प्रकार शरीर भी विराट की स्तुति अथवा
प्रार्थना करे तो उसकी विशेषता है न्यूनता नहीं (दे
भिमानी मनुष्य को विराट पुरुष की स्तुति करना चाहिए
इस प्रकार से भी प्रार्थना आदि विधि पूर्वक है) अहं

चौथी युक्ति यह है कि परिच्छिन्न अहंकार को जब
तक महद् अहंकार में लीन न करें तब तक ज्ञान की
प्राप्ति नहीं होसकती सो परिच्छिन्न अहंकारी जीव है और
महद् अहंकारी ईश्वर है। जब जीव अपना अहंकार
प्रार्थना के द्वारा ईश्वर को अर्पण अथवा भेंट करता है
तब जीव का जीवत्व भाव लीन होकर ईश्वर भाव शेष
रहता है अतः अहंकार की निवृत्ति के अर्थ महात्मा जन
अधिकारियों के प्रति प्रार्थना रूप भक्ति के विषय प्रवृत्त
कराते हैं यद्यपि जीव तथा ईश्वर दोनों एक रूप हैं परंतु
उपाधि भेद करके अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का भेद है
सो अल्पज्ञता सर्वज्ञता के आगे प्रार्थना करती है कि हे
सर्वज्ञता! आप ही हमारे रक्षक हो क्योंकि आपका ही
ज्ञान स्वरूप मेरा आत्मा है मानों आप ही मेरा स्व

धार कर स्थित हैं मैं तो नाममात्र हूं जब इस प्रकार से अल्पज्ञता सर्वज्ञता में लीन हो जाती हैं तब शेष ऐसी वस्तु रहती है कि जिसमें न सर्वज्ञता है और न अल्पज्ञता है केवल बोधमात्र है।

सो ऐसा बोध प्रार्थना करके प्राप्त होता है इस प्रकार से प्रार्थना आदिक द्वैत रूप नहीं है। जो मनुष्य अद्वैतवादी होकर ईश्वर की प्रार्थना आदि करने से डरते हैं कि इससे तो द्वैत हो जायगा उनका यह विचार यथेष्ठ नहीं। यह कथन उनहीं महानुभाव पुरुषों का है जो वेदान्त ग्रन्थों को स्वतन्त्र रूप से पढ़ते हैं और जो न महापुरुषों का सत्संग करते हैं न अभ्यास करते हैं और परम्परा गुरु प्रणाली को तोड़ते हैं अतएव प्रार्थना आदिक अद्वैत बोध के साधक हैं न कि बाधक।

आत्म निवेदन भी यही है कि अपने परिच्छिन्न अहंकार को समष्टि-अहंकार में लय करदे अतः इस मार्ग का प्रेम सहित सेवन करना चाहिये। देखो अबोधवान को प्रार्थना आदिक करने से अन्तःकरण शुद्ध होकर बोध के लिये समर्थ होता है और बोधवान को स्वरूप स्थित के योग्य बनाता है चाहे यह कहो कि आत्म स्थिति का फल मिलता है ज्ञान होना सुगम है।

परन्तु स्थित यत्न साध्य है। जितने भी यत्न हैं व
स्थित के लिये हैं क्योंकि स्थित से सुख होता है ज्ञा
सुख नहीं होता। इसलिये उत्तम पुरुष ज्ञान पर स
नहीं करते किन्तु ज्ञान से अधिक स्थित के निमित्त
पार्थ करते ही रहते हैं क्योंकि परमार्थ वस्तु की
के साधन में प्रथम श्रवण आदि तथा गुरु की
आदि है उसके करने से विरक्ति किंवा वैराग्य उ
होता है। और विश्वास करने से उसकी विषयों
आसक्ति नष्ट हो जाती है और उससे चित्त शुद्ध
है तथा देह आदि अभिमान की उपाधि नष्ट होती
और मोह ममता मेरा तेरा आदि दोष सब दूर हो
हैं उस स्थित के निमित्त ही गुरुजन और शास्त्र
पुनः पुनः अभ्यास तथा प्रार्थना आदि का उ
करते हैं। देखो शरीर सबको अपरोक्ष है और आ
परोक्ष है और तमाम दिन शरीर की सेवा पूजा में
हो जाता है इसी कारण से वृत्ति शरीराकार हो
है शरीर के बिना एक क्षण भी नहीं ठहरती किसी पु
शाली जीव को सत्संग तथा वेदान्त ग्रन्थ देखने से
ज्ञान भी हो जाता है कि आत्मा सत् है शरीर
है और मैं आत्मा हूं परन्तु यह ज्ञान मनन तथा

ध्यासन के विना केवल कल्पना मात्र है क्योंकि ऐसा कथनमात्र ज्ञान हानि लाभ प्रसन्न अप्रसन्न मान तथा अपमान की निवृत्ति के विषय सहायक नहीं होते। इस से बुद्धिमान जिज्ञासु यत्न सहित मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा वृत्ति को ऐसा शुद्ध करे कि आत्मा अथवा अपना आप अपरोक्ष हो जावे और शरीर परोक्ष हो जावे शंका और संशय सब भाग जावें और देह बुद्धि का बन्धन टूट जावे जिससे कि अहंभाव दूर हो जावे इस प्रकार के उपाय करने से दोष नष्ट हो जाते हैं और कार्य्य सिद्ध हो जाता है समाधि होने लगती है इस प्रकार के ज्ञान को विज्ञान नाम से कहा जाता है विज्ञानी के चित्त में बोध की दृढ़ता तथा सत्यता अपने अनुभव पर ही निर्भर होती है। ज्ञानी कहता है कि सुख तथा दुख अन्तःकरण के धर्म हैं मैं तो इनका साक्षी हूं ऐसा कथन अनुभव शून्य है केवल युक्ति और प्रमाण पर निर्भर है और विज्ञानी को सुख तथा दुख पाप पुण्य का भान ही नहीं होता अर्थात् बोधवान सुख तथा दुख, पाप पुण्य आदि पर वृत्ति नहीं लगाता है सबको स्वरूप ही देखता है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक अपने में साक्षी कूटस्थ ज्ञानीपने का अहंभाव है तब तक

जिज्ञासु को अभ्यास में लगे रहना चाहिये अज्ञानी गु
जानकर भजन करता है और ज्ञानी अपना आत्मा
कर भजन करता है अज्ञानी के भजन गुरु सेवा आदि
करने से अन्तःकरण पवित्र होता है और ज्ञानी को
अद्वैत के विचार समाप्ति पर जो वृत्ति का लक्षण है
वृत्ति के निवृत्त होने पर अर्थात् जब द्वैत नहीं रह ज
पूर्ण रूप से चित्त के समाधान होने पर वह उन्मनी अ
स्था में पहुंच जाता है सो देखो जितने भी मन्त्र
सम्पूर्ण स्वस्वरुप के विशेषणों का कथन करते हैं उन
पढ़ना मानों अपने स्वरुप का स्मरण करना है द्वैत
नहीं। सम्पूर्ण मन्त्रों में से और अर्थों से तथा सम
पदार्थों से अद्वैत वस्तु सिद्ध होती है।

प्रश्न २८—तीन सत्ताओं का स्वरूप क्या
उनमें से सत् कौनसी और असत् कौनसी है ?

उत्तर—व्यवहारिक तथा प्रातिभासिक
दोनों असत हैं और परमार्थिक सत्ता अद्वैत, अच
अडोल, अखंड निजस्वरूप है उसमें स्थित होना
धर्म है यद्यपि शरीर में तीनों सत्ता वर्तमान रहती
परन्तु विवेक दशा में केवल परमार्थिक सत्ता
निश्चय होती है इसलिये बुद्धिमान को व्यवहारिक

प्रतिभासिक दोनों को त्याग कर केवल परमार्थ सत्ता का अभ्यास करना चाहिये शरीर में तीनों सत्ताओं का स्वरूप यह है नाम, रूप, वर्ण आश्रम, पुण्य पाप, लोक, परलोक पिता पुत्रादि सम्बन्ध प्रताप यश अपयश आदिक प्रतिभासिक हैं तीनों शरीर अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति यह व्यवहारिक हैं और साक्षी चैतन्य परमार्थिक सत्ता है अतः जिज्ञासु को उचित है कि प्रथम की दोनों अवस्थाओं से रहित होकर केवल परमार्थिक सत्ता के विषय स्थित रहे जिससे सर्व क्लेश तीनों ताप चिन्ता दुख और अनर्थ नाश होवें और शान्ति तृप्ति समता मुदिता तथा गम्भीरता उदय होवे।

प्रश्न २६—परमार्थिक सत्ता वाले जीव का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—परमार्थिक जो जीव अविच्छिन्न है जो कि सुषुप्ति में अपना आप है वही मैं हूं साक्षी स्वरूप मैं हूं कूटस्थ मैं हूं अर्थात् तत्त्वमसि आदिक महावाक्य की जीव के साथ पूर्ण ब्रह्म की एकता है दूसरे दोनों जीवों की नहीं अर्थात् चिदाभास तथा स्वप्न कल्पित जीव की नहीं क्योंकि अविच्छिन्न जीव को ही परमार्थिक कहा है व्यव-हारिक चिदाभास जीव को और स्वप्न जीव को काल्प-

निक मिथ्या कहा जाता है। अविच्छिन्न जीव परमार्थि
जीव कैसे हैं उसके उपाधि भेद को हटाकर परमार्थि
स्वरूप को समझाते हैं अविच्छिन्न में रहा हुवा अविच्छे
सम्बन्ध है वह कल्पित है इससे उस करके हुवा जो
भाव है वह भी कल्पित है क्योंकि परब्रह्म में जीवभ
का आरोप्य हुवा है अविच्छिन्न वस्तु स्वरूप होने
कल्पित नहीं है यह ब्रह्मस्वरूप स्वभाव से है। सु
अवस्था में व्यष्टि अज्ञान का परदा होने से जिस व्य
अज्ञान करके जिस टुकड़े का अनुमान किया जाता
वह अविच्छिन्न चैतन्य जीव है। अर्थात् तीनों में अ
च्छिन्न जीव परमार्थिक हैं यह जीव भावव्यष्टि अज्ञान
उपाधि में है परंतु उपाधि होते हुवे भी जगत का बोध
जगतके दुख नहीं उपाधि केवल आड़ रूप है। वह व्यष्टि अ
की उपाधि से भी उपाधि वाला बना नहीं है। इसी से
मार्थिक है और वही सबका अपना आप स्वरूप है
निश्चय वाला ज्ञानी पुरुष ही परमार्थिक जीव है प
र्थिक सत्ता को प्राप्त होने वाले की सम्पूर्ण चिन्ता
रहती है शंका रहित निर्भय हो जाता है उसको
क्षेम की चिन्ता नहीं होती जैसे स्वप्न के पदार्थ मि
होने से संग्रह करने की इच्छा नहीं होती ऐसे ही

वानपुरुष कोभी परमार्थिक पूर्णबोध होने से जगत मिथ्या है यह दृढ़ ज्ञान होने से जगत के पदार्थों में रुची और संग्रह करने की इच्छा नहीं होती वह तो महान दुखों को भी नहीं गिनता और भिक्षुक की दशा में होकर भी अपनी खुदमस्ती में मस्त रह कर स्वतन्त्र पृथ्वी पर विचरता है ?

प्रश्न ३०—चिदाभास का स्वरूप सत्य है वा मिथ्या है ?

उत्तर—जैसे अग्नि से उत्पन्न हुवा जल विरुद्ध स्वभाव वाला होने से पर्दा रहित नहीं रह सकता रेलवे एंजिन बहुत सा बोझ ढोकर ले जाता है यह सामर्थ भाप की है न केवल जल की न केवल अग्नि की—जल में पर्दा सहित आई हुई जो गर्मी है उसी से जल भाप बना है इसी प्रकार चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित हुई माया ही से सम्पूर्ण संसार की क्रियायें होती हैं जैसे अग्नि और जल इन दोनों का विरुद्ध स्वभाव होने पर भी पर्दा रहित होने से दोनों का योग नहीं हो सकता इसी प्रकार चैतन्य का अविद्या के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता आवरण शक्तिके पश्चात विक्षेप शक्ति काम करती है। भाप के समान चिदाभास है इसी से सबका

काम चलता है। चिदाभास में चैतन्य का
प्रकाश है तो भी वह माया में पड़ा होने से
विशेषण वाला तथा मायिक होने से मिथ्या है फिर
अपने सत्ता के पदार्थ मिथ्या नहीं होते जैसे एक मि
का खिलौना स्वयं मिथ्या होने से दूसरे मिट्टी के खि
को मिथ्या नहीं कह सकता।

दीखने वाले पदार्थ देखने वाले की सत्ता से
सत्ता वाले हों तब ही मिथ्या कह सकते हैं। ज
अवस्था के पदार्थ और जाग्रत अवस्था का चिदा
दोनों एक सत्ता होने से जाग्रत अवस्था वाले जीव
मिथ्या नहीं कह सकते, परन्तु स्वप्न और स्वप्न
तो जाग्रत अवस्था वाले जीव को मिथ्या होता है
कि दोनों की सत्ता एक है जैसे स्वप्न का मिथ्या
जाग्रत अवस्था में होता है स्वप्न में नहीं, इसी प्र
जाग्रत का मिथ्यापना सिद्ध करने के लिये जाग्रत
कोई दूसरी ऊंची अवस्था में आना चाहिये तब ही
मिथ्या हो सकती है जैसे स्वप्न से अन्य ऊंची
है ऐसे ही जाग्रत से ऊंची अन्य परमार्थिक है जो
सब कुछ जानती है इसलिये सर्व का साक्षी तुर्या
वही विद्वानों की स्वरूप स्थिति है जैसे जाग्रत में

मिथ्या होता है तद्वत् ही परमार्थिक स्वरुप में जाग्रत मिथ्या है अर्थात् स्वप्न कल्पित जीव व्यवहारिक चिदाभास में मिथ्या है और अविच्छिन्न जो कूटस्थ स्वरुप उसमें चिदाभास भी मिथ्या है। अविद्या की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियां जब नहीं रहतीं तब ही परमार्थिक स्वरूप में स्थिति होती है निद्रा दोष वाली विक्षेप शक्ति का नाश अविद्या की आवरण शक्ति वाले जाग्रत में होती है और आवरण शक्ति सहित अविद्या का नाश ज्ञान स्वरुप परमार्थिक सत्ता में होता है स्वरुप स्थित अन्तिम अवस्था है।

प्रश्न ३१—बोध के पश्चात् अभ्यास की आवश्यकता है या नहीं ?

उत्तर—स्वरुप केवल ज्ञान मात्र है और वह ज्ञान विशेषणों द्वारा गुरु के मुख से प्राप्त होता है। जब तक विशेषण आत्मस्वरुप प्रतीत न हो तब तक आनन्द की प्रतीति नहीं होती जैसे शास्त्रों में लिखा है कि आत्म सत्ता सामान्य कूटस्थ निर्विकार आनन्दघन और शुद्ध है और गुरु भी शिष्य को यही उपदेश करता है और शिष्य गुरु के वचनों को सुनकर निश्चय करता है कि मैं कूटस्थ रुप हूं परन्तु जब तक इन वचनों के अर्थों को

अपना स्वभाव न बनावे तब तक ज्यों का त्यों स्वह
भव नहीं होता अर्थात् जब तक कूटस्थ स्थित
अन्तःकरण की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में समता
लता और आत्मरूपता अनुभव न हो तब तक कूट
प्राप्ति सिद्ध नहीं होती। इससे कूटस्थ के अर्थ
निज स्वभाव करने के अर्थ अभ्यास की
श्यकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विशेषणों
अपना स्वभाव बनाने के अर्थ अभ्यास कर्तव्य है।
शरीर दशा में पूर्व के संस्कारों करके परिच्छिन्न
कर भेद बुद्धि प्रत्यक्ष रहती है जबतक भेद बुद्धि
अत्यन्त करके निवारण नहीं होता तब तक अभेद
परिपक्व नहीं होती और अभेद बुद्धि के बिना
दशा प्राप्त नहीं होती अर्थात् स्वरुप स्थित नहीं
इसलिये देह दशा में समता भाव को धारण करना
समर्थवान तत्त्व वती बुद्धि का काम है। अतः
जगत का अभाव पूर्ण रीति से स्थिर न हो जावे
अभ्यास कर्तव्य है वैसे तो जब अभ्यास परिपक्व
जाता है छूट भी नहीं सकता ज्ञान होने पर
छोड़ देना चाहिये-यह कथन उन्हीं का है कि
अभ्यास करने में आलस्य आता है बिना साथी

वल स्वतन्त्रता पूर्वक वेदान्त ग्रन्थों को देखने से और
ब्रवेत्ता गुरू की शरण न लेने से तो वह अहंब्रह्म की कल्पना
ही बद्ध हो जाता है और अभ्यास तथा ध्यान के बिना
वल शास्त्रीय परोक्ष ज्ञान से देह की ममता बढ़ जाती
परमार्थ के बहाने से स्वार्थ भाव उत्पन्न हो जाता है
ौर मुक्त पने का अभिमान होने से स्वेच्छाचारी भाव
त्पन्न हो जाता है और जब उनकी पूजा होने लगती है
त्पश्चात् कामनाओं का परिवार बढ़ने लगता है जिज्ञासु
। बद्ध ज्ञानी नहीं बनना चाहिये देखो जाग्रत अवस्था
लेकर स्वरूप की प्राप्ति तक जीव के अनेक सृष्टियों के
स्कार पड़े हुए हैं और हृदय के ऊपर पुरानी योनियों
शुभ अशुभ कर्मों के कंटकों से युक्त वृक्षों से घिरी हुई
ा घोर रूप जंगलों के संस्कारों की झाड़ी है इससे
ने का मार्ग नहीं दीखता—जब अभ्यास तथा वैराग्य
बल से उन पुरानी कंटक रूपी वासनाओं को हटाता
ता है तब वह संस्कार प्रतीत होते हैं जैसे २ अभ्यास
र वैराग्य से संस्कार हटते जायेंगे उसी २ प्रकार आगे
मार्ग साफ होता जायगा जब अभ्यास गहराई और
ेम मय होता है तब कहीं सूक्ष्म संस्कारों की सफाई
ती है—उस समय जिज्ञासु को सावधान रहना चाहिये

क्योंकि ध्यान से हटकर चित्त चलायमान होता ज्ञातं
दृश्य की ओर भागता है अर्थात् मान बड़ाई प्रतिष्ठ
लग जाता है अतः ध्यान से हटकर ध्येय में ही वृत्ति
करना चाहिये—देवता आदि ऐश्वर्य के प्रलोभन के
आना चाहिये अर्थात् सम्पूर्ण दृश्यों का हृदय से
रहना चाहिये संस्कार जैसे २ वैराग्य के बल से
होते जावेंगे वृत्ति उतनी ही अधिक स्थित को प्राप्त
जायेगी इस लोक के तथा परलोक के पदार्थों में और
पन देखना और अपने ज्ञान का घमंड करना
की ओर से हटकर नीचे गिरना है इन सम्पूर्ण वास
को हटाकर वृत्ति को ध्येयाकार रखना चाहिये—इस
ध्यान की स्थिति के पश्चात् समाधि की प्राप्ति हो
है। विवेकियों को मैं साक्षी हूं तथा कूटस्थ हूं
संतोष करके अभ्यास नहीं छोड़ना चाहिये—य
धारणा की शक्ति है जो कि प्रत्याहार के पश्चात्
है जब निर्विकल्प समाधि के द्वारा पूर्ण अद्वैत
साक्षात्कार होता है उसको परम तत्व कहते हैं
सामान्य चैतन्य है वही सबका अपना आप है जिस
मुक्त तथा जीवन मुक्त आदि कोई कल्पना नहीं जहां
भाव नष्ट हो जाता है और अपनी वृत्ति भी तद्रूप

जाती है जो निर्विकल्प और कल्पनातीत है वही मेरा स्वरूप है यह दृष्टि बोधवान की होती है वह साधू धन्य है जो ऐसे निर्विकल्प ब्रह्म में लीन रहता है सब प्रकार के संगों का त्याग किये विना परंतत्व में लीन नहीं रह सकते अतः संग का त्याग करके ही उसको मौन गर्भ द्वारा ब्रह्म को देखना चाहिये केवल तुरीय अवस्था में ही ब्रह्म माया और अनुभव की बात जानी जा सकती है और वही अवस्था साक्षिणी है उसका साक्षीपना भी वृत्ति के कारण है उसके पश्चात् उन्मनी अवस्था प्रारम्भ होती है जिससे सम्पूर्ण वृत्तियों की निवृत्ति होती है उसमें जानकारी नहीं रह जाती वह तत्ववेत्ताओं की अन्तिम स्थित है वही विज्ञान तथा बोध है।

प्रश्न ३२—शरीर में केवल आत्मा ही चैतन्य और इन्द्रिय अन्तःकरण आदि सब जड़ हैं परन्तु बुद्धि आदि जो प्रत्यक्ष चैतन्य प्रतीत होते हैं उनको जड़ किस प्रकार माना जावे ?

उत्तर—शास्त्रों में दो प्रकारों के वाक्य हैं एक निषेध दूसरे विधि। निषेध वाक्यों के आश्रय चैतन्य को सबसे प्रथक और परे समझाया गया है और विधि वाक्यों के आश्रय सबको ही चैतन्य समझाया गया है।

जहां शरीर में केवल आत्मा को ही चैतन्य और इं
अन्तःकरण आदि को जड़ बतलाया गया है सो नि
वचनों की प्रतीति जानना । जब यथार्थ ज्ञान क
निश्चय होता है कि अद्वैत चैतन्य आप में आप स्थि
तब विधि वचनों करके निश्चय होता है कि जो श
इन्द्रिय अन्तःकरण और दूसरे पदार्थ भी चैतन्य
प्रथम निषेध वचन जिज्ञासु के प्रति सुनाए जाते हैं जि
उसका निश्चय स्थूल पदार्थ से निवृत होकर केवल
आत्मा के स्वरूप में परिपक्व हो जाये । जब यथा
बोध होकर द्वैत का अत्यन्त अभाव निश्चय होता है
स्वभाविक ही स्थूल और सूक्ष्म भेद निवृत्त हो जाता
और साथ ही जड़ चैतन्य समान प्रतीत होते हैं ।

इसलिये आत्मा को चैतन्य और इन्द्रिय को
कहने का यह प्रयोजन नहीं है कि यह दो वस्तु हैं कि
यह अर्थ है कि आत्मा ही इन्द्रिय अन्तःकरण रूप हो
चैतन्य हो रहा है इन्द्रिय और अन्तःकरण आप
वस्तु नहीं जैसे इञ्जन में धूम्र शक्ति चैतन्य है और इ
सब कलें जड़ हैं परन्तु धूम्र शक्ति की चैतन्यता क
द्वारा ऐसी अभिन्न प्रतीत होती है कि जो धूम्र श
किसी को दृष्टि गोचर नहीं होती और कलें पृथक

का
देखे
है
उसी
चैत
कर
के
चैत
आ
दृष्टि
होते
चैत
होत
इन्
देख
का
प्रग
चैत
कि
चैत

कार्य्य करती हुई दृष्टि आती हैं यदि वास्तव दृष्टि करके देखो तो भूम्र शक्ति ही सम्पूर्ण कलों में कर्म करने वाली है इससे भूम्र शक्ति ही चैतन्य है और सब कलें जड़ हैं उसी प्रकार शरीर रूपी इञ्जन में भूम्र शक्ति की तरह चैतन्य शक्ति है और कलों की तरह इन्द्रिय और अन्तः करण आदिक हैं चैतन्य की चैतन्यता इन्द्रिय आदिक के साथ ऐसी अभिन्न है जो इन्द्रिय और अन्तःकरण चैतन्य प्रतीत होते हैं और आत्मा की चैतन्यता किसी आत्म अनुभवी बोधवान को ही प्रतीत होती है स्थूल दृष्टि वाले को इन्द्रिय और अन्तःकरण चैतन्य प्रतीत होते हैं और सूक्ष्म दृष्टि वाले को केवल आत्मा ही चैतन्य प्रतीत होता है और इन्द्रिय आदिक जड़ प्रतीत होती है। इस दृष्टि को लेकर आत्मा को चैतन्य और इन्द्रिय आदि को जड़ कहा गया है यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो अद्वैत वस्तु अपने आप में स्थित है कारण और कार्य्य रूप होकर अपनी महिमा को आप प्रगट कर रही है—जड़ स्वरूप होकर कारण है और चैतन्य स्वरूप होकर कार्य्य है तत्व की बात तो यह है कि जड़ता से चैतन्यता प्रगट होती है और जड़ता करके चैतन्यता स्थिर रहती है।

प्रायः मनुष्य हमारे इस लेख को पढ़ कर चैतन्य
उठेंगे कि कहीं जड़ता से भी चैतन्यता प्रगट हो ता
यह प्रमाण तथा अनुभव के विरुद्ध है सो इस आक्षेन्द्रिय
समाधान यह है कि हम ही तुमसे पूछते हैं कि सुषात्म
की दशा में जीवात्मा जड़ होता है अथवा चैतन्य? चेक प
तो तुम कह नहीं सकते जड़ ही कहोगे, तो हम पूछें में उ
कि जब जड़ होता है तो उसमें से जाग्रत तथा स्वप्न न्द्रिय
निकल आते हैं जो कि प्रत्यक्ष चैतन्य और क्रिया । ।
प्रतीत होते हैं देखो जैसे सुषुप्ति जड़ प्रतीत होत और
अक्रिय होने से और तत्पश्चात् उसमें से जाग्रत और
स्वप्न प्रगट होकर क्रियावान प्रतीत होते हैं और जह इ
में चैतन्यता लीन हो जाती है जैसे सुषुप्ति में जाग्रत था
ज्ञान लीन हो जाते हैं, आदि और अन्त जड़ता है, न्तः
में बिजली के चमत्कार की तरह चैतन्यता अपना डत
दिखाती है इससे सिद्ध हुवा कि चैतन्यता निरन्तर जा पय
में रहती है जड़ता को त्याग कर कहीं नहीं रहती तन्य
जड़ता का कर्म स्वरूप चैतन्य है और जड़ता का था
स्वरूप जड़ है। परमार्थ दृष्टि में सत्य वस्तु का तन्य
अक्रिय जड़ रूप है और कर्ता स्वरूप चैतन्य है इस तन्य
जड़ और चैतन्य एकरूप हैं दो नहीं। इससे आत्मा कि

तन्य और इन्द्रिय तथा अन्तःकरण को जड़ माना गया तात्पर्य यह है कि आत्मा के अर्थ अपने आपके हैं और न्द्रिय का आत्मा इन्द्रिय कर्म है जैसे चक्षु इन्द्रिय का ात्मा देखना है कान का आत्मा सुनना है इसी प्रकार क एक इन्द्रिय का कर्म और एक एक अन्तःकरण का र्म उसका आत्मा अर्थात् अपना आप है। एक एक न्द्रिय और अन्तःकरण के विषय दो दो स्वभाव रहते । एक तो कर्म के विषय प्रवृत्त होकर कर्तारूप होना ौर दूसरा कर्म को त्याग कर अक्रिय रूप होना। इन्द्रिय ौर अन्तःकरण का अपने अपने कर्म के विषय प्रवृत्त होना ह इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का चैतन्य स्वरुप है इन्द्रिय था अन्तःकरण का कर्म से अक्रिय होना इन्द्रिय तथा न्तःकरण का जड़ स्वरुप है इसलिये चैतन्यता और ड़ता एक एक इन्द्रिय और एक एक अन्तःकरण के षय (तनुमात्रा अर्थात् विषय) से भिन्न कोई दूसरी तन्यता नहीं है। इससे विषयों के विषय प्रवृति ही इन्द्रिय था अन्तःकरण का आत्मा है अर्थात् आप है और कोई तन्यता नहीं इस दृष्टि को लेकर शास्त्रों में आत्मा को तन्य कथन किया है अर्थात् चैतन्य कहा है तात्पर्य यह कि इन्द्रिय और अन्तःकरण तथा उनके विषय सब ही

चैतन्य हैं क्योंकि आत्मा इनसे कोई भिन्न वस्तु । चे
जो सबका अपना आप है चैतन्य है इससे सब ही योग
हैं तात्पर्य्य यह है कि जड़ और चैतन्य वस्तु वित्त
स्वभाव हैं प्रवृति का नाम चैतन्यता है और निर्वृति
नाम जड़ है यह प्रवृत्ति और निवृत्ति ही जगत्था
स्थित है और एक दूसरे से ऐसी अभिन्न है जो प्रश्च
त्याग कर निवृति नहीं रहती और निवृति को त्याग
प्रवृति नहीं रहती मानों प्रवृति और निवृति एक दूं
सहायक हैं अतः प्रवृति और निवृति समरूप हैं औरूप
शक्त तथा शक्तिरूप हैं इससे जितने पदार्थ वा में
विचार के आश्रय प्रसिद्ध चले आते हैं सब ही म वे
स्वभावों के अन्तरभूत हैं। जब यह दोनों समरूप हीं प
सम्पूर्ण पदार्थ अर्थात् शब्द और अर्थ समान रूप र
कोई जड़ है और न कोई चैतन्य है और न कोई ता
है न अन्तःकरण, न कोई आत्मा है न कोई अन म
केवल सत्ता समानरूप होकर आपमें आप स्थित ार
दृष्टि विचारशील पुरुषों की होती है। य

प्रश्न २३—मन का स्वरूप क्या है और ति
उत्पत्ति कहां से है जड़ है अथवा चैतन्य ? ने के

उत्तर—शुद्ध आत्मा में जो सम्वेदन हुआ ार

।ा चेतता होती है वह मन का रुप है और उस मन के योग से चैतन्य को जीव कहने लगते हैं। जब उसमें जीवत्व होता है उस काल में अपनी देह को देखता है अर्थात् भाव रूप जो पदार्थ हैं उनके मध्य में जो सत् तथा असत् का निश्चय है उसी का नाम मन है। जब यह निश्चय शरीर से मिलकर फुरता है कि मैं मनुष्य हूं गरीब हूं अमीर हूं ब्राह्मण हूं इत्यादि सोई मन का रूप है। यह कल्पना नहीं तो मन भी नहीं इसके सिवाय मन का स्वरूप आकाश के समान कुछ नहीं जब इस मन ने कहा कि मैं तो देह हूं उस काल में वह अनेक प्रकार के जगत् भ्रम को देखता है जगत् सत् भी नहीं और असत् भी नहीं परन्तु प्रत्यक्ष देखो तो सत् की नाईं प्रतीत होता है और नाश भाव से असत् ज्ञात होता है और वह मन में फुरता है मन के दो रुप हैं एक जड़ दूसरा चैतन्य। जड़ मनका दृश्य रुप है और चैतन्य रुप मन ब्रह्म है जब संसार की ओर ध्यान (ख्याल) करता है तब उसका दृश्य रुप हो जाता है और जब चैतन्य भाव की ओर प्राप्त होता है तब ब्रह्म रुप हो जाता है। जिस प्रकार सोने के ज्ञान से गहने का भाव नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उसका दृश्य रुपी जड़ भाव नष्ट हो जाता है।

वास्तव में तो ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सब ही
रूप हैं जड़ उसको कहना चाहिये जिसमें चित्त
अभाव हो जैसे लकड़ी में चित्त का अभाव है उसमें
प्रतीत नहीं होता और प्राणधारियों में चित्त की
होती है परन्तु स्वरूप में दोनों बराबर हैं क्योंकि
जड़ चैतन्य प्राणि एक आत्मसत्ता से प्रकाशित
यों कहो कि जड़ चैतन्य प्राणि ज्ञान स्वरूप आत्
कल्पित हैं अर्थात् अध्यस्त हैं लौकिक मनुष्यों ने
के दो भेद कर रक्खे हैं जड़ और चैतन्य दोनों के
और रूप अवश्य होते हैं नाम व्यवहार के निमित्त
है जो कि काल्पनिक है और रूप व्यवहार की
है जिसको लौकिक मनुष्य चैतन्य कहते हैं वह
सूक्ष्म है तो भी उसकी आकृति गुण आदि को
अथवा स्थूल को ग्रहण करके होती है विशेषता से
न्य का भान होने से प्राणधारी को चैतन्य बोल
अर्थात् जिसमें चिदाभास की विशेष प्रतीति हो।
मनुष्य उसे ही चैतन्य कहते हैं और सामान्य चैतन्य
सबका आधार है उसको संसारी लोग नहीं जानते
यह बात सिद्ध हुई कि सब ही चैतन्य रूप है जो
रूप नहीं हों तो इनकी प्रतीति न हो चैतन्यता

नकी उपलब्धि होती है वास्तव करके जड़ चैतन्य का विभाग अवाच्य ब्रह्म में नहीं पाया जाता यह तो प्रमाद दोष करके है यथार्थ में नहीं जैसे स्वप्न में दो प्रकार का जगत भूत प्राणि जड़ और चैतन्य रूप से प्रतीत होते हैं उनका प्रमाद होता है तब उस चैतन्य भूत प्राणि को जड़ तथा चैतन्य विभाग भासता है और स्वरूपदर्शी को सब एक रूप भासता है अर्थात् 'वासुदेवं सर्वइति,सर्वं इदं अयमात्मा' इत्यादि यह शंका करो कि मन जड़ है या चैतन्य इसका उत्तर यह है न जड़ है न चैतन्य वरन् जड़ चैतन्य की गांठ के मध्य भाव का नाम मन है उसी को जीव भी कहते हैं तथा संकल्प में कल्पित रूप मन है उस मन से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है और जड़ तथा चैतन्य दोनों भाव में रहता है अर्थात् कभी जड़ भाव में हो जाता है और कभी चैतन्य भाव में आ जाता है जो मनुष्य मन को केवल जड़ मानते हैं उनको बिल्कुल जड़ ही जानों और जो पुरुष मन को केवल चैतन्य ही मानते हैं उनको भी जड़ जानों। यदि मन का एक रूप हो तो सुख दुख आदि में अन्तर न हो तथा जगत् का लय भी न हो। और यदि मन को केवल जड़ ही मान लें तो जगत का कारण नहीं हो सकता क्योंकि

केवल जड़ तो पत्थर होता है और पत्थर से कोई
उत्पन्न नहीं होती और केवल चैतन्य मानें तो भी
का कारण नहीं हो सकता और सिद्धान्त में
आत्मा है। अतः एक चैतन्य आत्मा दूसरा मन
दो चैतन्य सिद्धान्त के विरुद्ध हैं इसलिये जड़
की कल्पना को त्याग कर अर्थात् मन के संकल्प
से मुक्त होकर ब्रह्म के मौन स्वरुप में स्थित रहते
स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी मस्ती में मस्त रहकर
विचरना चाहिये और न कोई नया कार्य्य आरम्भ
चाहिये वरन् दया भाव करके बद्ध प्राणियों को
के साधन में लगाना चाहिये।

प्रश्न ३४—वेद शास्त्रों में कहा है कि
संकल्प किया कि मैं एक हूं बहुत हो जाऊं बस
अनेक होगया तब तो संकल्प के अनुसार भिन्न २
में जीव आता जाता रहेगा तो मुक्त किस प्रकार

उत्तर—वेद शास्त्रों का यह आशय नहीं
ब्रह्म में फुरना हुई क्योंकि ब्रह्म तो सर्वदा फुरने से
निर्विकल्प आप में आप स्थित है और वेद शास्त्र
भी ऐसा ही वर्णन है जहां आदि में फुरने से सृष्टि
उत्पत्ति का प्रसंग आया है उसका यह आशय

वास्तव में तो जगत् कुछ है नहीं केवल संकल्प मात्र है जिस प्रकार स्वप्न लोक कुछ वस्तु नहीं केवल मनोराज्य है उसी प्रकार यह प्रपंच भी मनोराज्य है यथार्थ में एक वस्तु आप में आप स्थित है जिसको बोधवान ब्रह्म कहते हैं अबोधवान जगत कहते हैं इसलिये न कुछ उत्पन्न हुआ और न कुछ नाश हुआ। अब रहा प्रत्यक्ष नाश और उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है यह सब स्वप्न की तरह है स्वप्न में अनेक सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती दृष्टि आती हैं परंतु बनी कुछ नहीं वास्तव में एक पुरुष ही है तथापि जब तक स्वप्न है तब तक उत्पत्ति तथा प्रलय की दृष्टि आती है और जब स्वप्न नहीं होता तब उत्पत्ति और प्रलय भी दृष्टि नहीं आती। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक ही शरीर में सम्पूर्ण संसार मन का रचा हुआ मन ने ही देखा। क्या देखा कुछ न देखा बस इसी प्रकार ब्रह्म चैतन्य अपनी चैतन्यता आप में देखता है क्योंकि चैतन्यता चैतन्य का स्वभाव है।

बस इसी को संकल्प अथवा फ़ुरना नाम से कहा है अतः चैतन्य कहीं आता जाता नहीं यदि यह कहो कि एक शरीर पर अनेक रोम होते हैं और शरीर के रहने तक रोम भी साथ रहते हैं और उन रोमों का पालन भी

साथ ही साथ होता है और कोई बाल जड़ से कट
जाय तो जब तक शरीर है पुनः प्रगट हो ज
उसी प्रकार संकल्प से स्थूल शरीर हुआ है
तरह नाश होकर फिर उत्पन्न हो जायगा।
मुक्ति का होना असम्भव है यह जो आपका दृष्टा
उससे भी सिद्ध होता है कि शरीर और रोम एक
दो नहीं शरीर से जो रोम उत्पन्न होते हैं इससे क्या
हुआ और जो नहीं होते तो इससे क्या सिद्ध होगा।
को त्याग करके रोम कहीं जावें और फिर उस स्था
उत्पन्न होवें तब हम मानें कि आपका यह दृष्टान्त
गमन के विषय यथार्थ है। देखो रोम तो शरीर में
होता है और शरीर में ही मिलता है और शरीर
आश्रय रहता है रोम शरीर से भिन्न नहीं कि रोम
हैं और शरीर कोई दूसरी वस्तु है किन्तु रोम तो
का ही स्वरूप है क्योंकि रोम को शरीर से पृथक् कर
अपने शरीर से पृथक नहीं रहता अतः यह रो
वरन् शरीर ही रोम रूप होकर प्रकट होता है
प्रकार सूक्ष्म संकल्प से जो स्थूल शरीर उत्पन्न
और वह सूक्ष्म संकल्प ब्रह्म के आश्रित है इससे
हुआ कि स्थूल शरीर भी ब्रह्म के आश्रित है।

को त्याग कर दूसरे स्थान पर उत्पन्न हो उसका आवागमन मानें। जब संकल्प ब्रह्म को कभी त्याग नहीं सकता तो इससे सिद्ध होता है कि संकल्प ब्रह्म स्वरूप है और जब स्थूल शरीर संकल्प से है और कभी भी संकल्प को त्याग नहीं सकता, इससे सिद्ध होता है कि संकल्प स्थूल शरीरमय है। ऊपर सिद्ध हो चुका है कि संकल्प ब्रह्म रूप है अब सिद्ध हुआ कि स्थूल शरीर संकल्प रूप है। अतः स्थूल शरीर भी ब्रह्म रूप है इसलिए ब्रह्म में उत्पत्ति तथा प्रलय नहीं मानी गई। स्थूल शरीर भी उत्पत्ति तथा नाश से रहित है संकल्प और चैतन्यता एक ही अर्थ वाले हैं और चैतन्यता चैतन्य का स्वरुप है, इससे वह अविनाशी है तथा विकारों से रहित है अर्थात् निर्विकार है। और सम्पूर्ण सृष्टि संकल्पमय है अर्थात् चैतन्यतामय है। ऊपर सिद्ध किया कि चैतन्यता चैतन्य का स्वरुप है अब सिद्ध हुआ कि जो सृष्टि संकल्प रुप है उसको चैतन्य रूप जानना अर्थात् चैतन्य से भिन्न नहीं जानना। इससे सम्पूर्ण सृष्टि चैतन्यरूप है और चैतन्य उत्पत्ति तथा नाश से रहित है इसलिए सृष्टि भी उत्पत्ति तथा नाश से रहित समान भाव में स्थित है।

जीव को ब्रह्म से जब पृथक माने तब आवागमन

सिद्ध होगा। और जो जीव को ब्रह्म रूप मा
आवागमन मिथ्या और अयथार्थ मानना पड़ेगा
जगत कोई दूसरी वस्तु नहीं परमात्मा ही है
जितनी सृष्टि जड़ अथवा चैतन्य रूप से प्रकट है
परमात्मा की सत्ता है। चैतन्य स्वरूप में चल
जड़ स्वरूप में अचल है जहां चल है वहां जीव है
जीवाभास माना गया है। और जहां अचल है
निर्जीव माना गया है तो निर्जीव अर्थात् जड़
आवागमन से रहित माने गये हैं और चैतन्य व
जीव है उसको आवागमन के आधीन माना गया
देखो कैसा अन्धेरखाता है और कितनी बेसमझी
बात है ऐसा कहने वाले बिना अनुभव के कह दें
कि जड़ सत्ता तो सत् और जन्म मरण से रहित है
चैतन्य जन्म मरण के आधीन है। ऐसा कथन
सूखे अध्ययन के कारण ही है। एक को आवागम
रहित मानना और एक को आवागमन के आ
मानना यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है। यह वचन केवल
वादियों ने भय उत्पत्ति के निमित्त प्रसिद्ध किये हैं।
यह वचन भयानक है यथार्थ नहीं। वास्तव में एक
आप में आप स्थित है न कहीं आती है और न

ाती है न उत्पन्न होती है न नाश होती है एक रस पनी महिमा में स्थित है ।

सूक्ष्म और स्थूल वास्तव में एक वस्तु है यह दो स्तु नहीं जैसे हम पीछे जड़ और चैतन्य को परमात्मा ी सत्ता सिद्ध कर आये हैं । उसी प्रकार स्थूल और ूक्ष्म भी परमात्मा की सत्ता हैं अर्थात् शब्द स्पर्श रूप स गन्ध यह पञ्च तन्मात्रा सूक्ष्म कही जाती हैं । और आकाश वायु अग्नि जल पृथ्वी यह पांच तत्व स्थूल कहे ाते हैं ।

अब गहराई से विचार करो कि इन दोनों का स्वरुप एक है क्योंकि शब्द के विना आकाश का कोई स्वरुप हीं उसी प्रकार स्पर्श के विना वायु का कोई स्वरूप नहीं । सी प्रकार रूप के विना अग्नि का कोई स्वरुप नहीं । सी प्रकार रस के विना जल का कोई स्वरुप नहीं और न्ध के विना पृथ्वी का कोई स्वरुप नहीं अर्थात् इन पांच भूतों की सत्ता इन पांच तन्मात्रा से भिन्न नहीं । यह सब एक वस्तु है इससे सिद्ध हुआ कि जो सूक्ष्म है ही स्थूल है और जो स्थूल है वही सूक्ष्म है । अब यह ानना कि स्थूल के नाश होने से सूक्ष्म का नाश नहीं ोता और सूक्ष्म का नाश हो जाने से स्थूल का नाश

हो जाता है यह कथन परमार्थ से विरुद्ध है। प्र
नाश का शब्द भी निरर्थक है क्योंकि वास्तव में तो
वस्तु नाश नहीं होती केवल आकारों का आरम्भ
परिणाम होता है। यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों श
और सो शक्ति परमात्मा से भिन्न नहीं किन्तु पर
रूप है और जीव भी कोई भिन्न वस्तु नहीं है जो
शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर में प्रवेश करे। जीव
है और आवागमन से रहित है और परमात्मा स्व
स्थूल और सूक्ष्म दोनों जीव की शक्तियां हैं। सृ
होकर भासना अर्थात् प्रतीति का होना जीव का स्
है क्योंकि जीव चैतन्य है और चैतन्य का स्वभाव
स्फुरण है। और सत्ता स्फुरण वस्तु अपने स्वभाव में स्
अज्ञान से उस सत्ता स्फुरण को उत्पन्न होने वाला
नाश होने वाला आवागमन वाला मानते हैं। जैसे
का द्रवत्व स्वभाव है और वही स्वभाव तरङ्ग बु
रूप होकर प्रतीत होता है। यदि कोई कहे कि
तरंग उत्पन्न हुई और वह तरङ्ग नाश हुई अर्था
तरङ्ग पुनः दूसरी बार उत्पन्न हुई यह कहने
अज्ञानी है अर्थात् समझ नहीं रखता। क्योंकि उ
जल के द्रवीभूत स्वभाव का ज्ञान नहीं है। यदि

ज्ञान होता तो किसी तरङ्ग की उत्पत्ति और किसी का नाश नहीं मानता ; उसी प्रकार चैतन्य का स्वभाव सत्ता स्फुरण है वही स्वभाव शरीर रुप होकर उत्पन्न और नाश होता है और आता जाता संकल्प करता और संकल्प से रहित भी प्रतीत होता है। यदि कोई उसको न विकारों सहित मानता है वह मनुष्य यथार्थ ज्ञान से अज्ञात है। यदि उसको यह ज्ञान हो कि चैतन्य वस्तु अपने स्वभाव में स्थित है तो फिर उसको कभी भी शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि अपने स्वरुप को यथार्थ रुप से जाने तो फिर आवागमन का संदेह कभी भी नहीं आ सकता जब यथार्थ ज्ञान से सम्पूर्ण संशय अर्थात् जाति नाम आश्रम जन्म मरण पुण्य पाप नर्क स्वर्ग यश अपयश आदि जो कानों के द्वारा संसार में फैल रहे हैं। मिथ्या निश्चय होकर निवृत्त हो जाते हैं तब मुक्ति समझी जाती है। अर्थात् निःसंशय और निर्भय अवस्था मुक्ति की मुक्ति है यह नहीं कि जब संकल्प न उठे तब मुक्त है। गहराई से विचार करो तथा सोचो कि संकल्प के आश्रय सम्पूर्ण कार्य्य विराट में सिद्ध होरहे हैं। यदि संकल्प से रहित को मुक्त माना जावे तो पर्वत वृत्त भी मुक्त होने चाहिएं। इससे इतर किसी की मुक्ति नहीं।

अथवा संकल्प से रहित अवस्था को मुक्त अवस्था जावे तो सुषुप्ति में तमाम संकल्प लीन हो जाते हैं तो भेद से रहित ज्ञानी और अज्ञानी सब ही मुक्त चाहिए और किसी को भी सावधान होकर व्यव न वर्तना चाहिए। जागकर समस्त कार्य सिद्ध इससे सिद्ध होता है कि संकल्प के निवृत्त होने की प्राप्ति नहीं किन्तु अज्ञान के निवृत्त होने से मु प्राप्ति होती है और अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से इसलिए जिसने अपने वास्तविक स्वरूप को यथार्थ पहिचान लिया है उसका आवागमन जो केवल है नाश हो जाता है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं यथार्थ दूसरे रोचक तीसरे भयानक यथार्थ वा केवल ब्रह्म ज्ञान के विषय में होते हैं जैसे न उ और न मरण है न बन्ध है और न मोक्ष है रोचक वाक्य ऐसे होते हैं जैसे स्वर्ग की प्राप्ति देवता की प्राप्ति मुक्ति की प्राप्ति वा जीवन्मुक्ति कि जिससे जिज्ञासु प्रेम सहित अपने कर्म आरुढ़ हुआ स्वभाव को शुद्ध करने का पुरुषा रहे। तीसरे भयानक वाक्य होते हैं जिससे मनु

त होकर सत्य मार्ग पर चलता हुआ वैराग सहित
चरण करतारहे जैसे नर्कजन्म मरण यश अपयश नीच
ोनि की प्राप्ति इत्यादि कि जिससे मनुष्य भयमान होकर
पनी शुद्धता का उपाय करता रहे। अब तीन प्रकार
वचनों में से यथार्थ वचन तो सत्य हैं और रोचक
था भयानक वचन कल्पित हैं।

सत्य वचन विश्वास करने योग्य हैं और शेष
चन विश्वास करने योग्य नहीं। यद्यपि जिज्ञासु के लिए
चक तथा भयानक दोनों ही वचन लाभदायक हैं और
सकी उन्नति का कारण हैं। प्रथम इन दोनों वचनों के
हारे अपने स्वभाव को शुद्ध करता है परन्तु यहां पर
क महत् संशय की निवृत्ति पर बात चल रही है अर्थात्
ाद हो रहा है इसलिये बुद्धिमान रोचक और भयानक
चनों को त्याग कर केवल यथार्थ वचनों को निश्चय
रके संशय विपर्य से रहित होकर निर्विकल शान्ति-
ान रहे। अपने स्वभावों को शुद्ध करना भी योग्य है
ार उसके निमित्त सत्य तथा असत्य विवेक और ज्ञान-
ानों का सत्सङ्ग करना और अपने कर्मों का विचार
याय पूर्वक करना श्रेष्ठ और पूर्ण साधन करना सहा-
क हैं। आना जाना मरना स्वप्न भ्रम की तरह मिथ्या

है जो पुरुष आत्म सत्ता में जाग्रत हुआ है उसको
भ्रम नहीं होता।

प्रश्न २५—यह क्या कारण है कि सुषुप्ति
अविद्या बलवान होती है और बहुत काल सोने में
जाता है ?

उत्तर—सुषुप्ति केवल आनन्दघन अवस्था
आनन्द के बिना इस अवस्था में और कुछ नहीं
परन्तु आनन्द का अनुभव करने वाली बुद्धि अपने
में लीन हो जाती है इसलिये सामान्य प्राणी इस अ
को अविद्या रूप जानते हैं वास्तव में यह अवस्था
तथा स्वप्न से श्रेष्ठ है क्योंकि सब उपाधियों से
कैवल्य अवस्था होती है। ज्ञानवान जाग्रत अवस्था
भी सुषुप्ति अवस्था का अभ्यास करते हैं।

इस प्रयोजन से जो आनन्द सुषुप्ति अवस्था में
प्रयत्न के मिला है वह आनन्द जाग्रत अवस्था
प्राप्त है जाग्रत अवस्था में जो आनन्द अधिक
होता है वह वृत्ति के सम्बन्ध से प्रतीत होता है,
वह वृत्ति क्षणभंगुर है और सुषुप्ति अवस्था
आनन्द प्राप्त होता है वह वृत्ति के सम्बन्ध से
होता है और स्थिर है अतः सुषुप्ति अवस्था का

जाग्रत अवस्था के आनन्द से श्रेष्ठ है। जाग्रत अवस्था में सन्तों का सङ्ग और सत् शास्त्रों का विचार स्वरूप के मनन और निदिध्यासन से मन का उपशम तथा ध्यान समाधि एकान्त सेवन और मौनता की सहायता लेनी पड़ती है, और सुषुप्ति अवस्था में इन सब की सहायता के बिना स्वतः सिद्ध आनन्द रूप अवस्था होती है। आनन्दघन रूप से दूसरी वस्तु उस अवस्था में नहीं होती इसलिए तमाम दिन रात में यही अवस्था वास्तविक और परमानन्द रूप है। और दूसरी दोनों अवस्था अर्थात् जाग्रत तथा स्वप्न कल्पित और विक्षिप्त रूप हैं। दिन भर का क्लेश और परिश्रम दो मुहूर्त की सुषुप्ति से निवृत्त हो जाता है।

अब विचार करना चाहिए जो यह आश्चर्य रूप अवस्था है कि जिस में स्थिर होकर अन्तःकरण और इन्द्रियां तृप्त होजाती हैं और सर्व से अज्ञात होकर आप में आप मग्न होता है मानो उस समय उस गति को प्राप्त होता है जो मन-बुद्धि-चित्त अहङ्कार से अगोचर है आशय यह है कि जीव परब्रह्म रूप होता है। परन्तु अज्ञानी इस अवस्था की महिमा न जान कर सोचते हैं कि जो सोने में हमारा काल नष्ट हुआ। नहीं इस में

काल का नाश नहीं हुआ, किन्तु परमात्मा से मि
हुआ है। उस समय जीव केवल परमात्मा स्वरूप
हैं। जिस अवस्था को योगी जन अभ्यास करके प्र
करना चाहते हैं और वह प्राप्त नहीं होती सु
अवस्था में योगादिक साधनों के बिना ऐसी परम ग
परमवृत्ति परम शान्ति परममौनता तथा परम नि
अवस्था प्राप्त होती है। अतः सम्पूर्ण संशयों को वि
करके सुषुप्ति अवस्था का आराधन करना चाहिए।
इसी अवस्था को जाग्रत् अवस्था में प्रकट करके स
मात्र रहना उचित है। अर्थात् जैसे सुषुप्ति दशा
विषयों की विस्मृति होजाती है तद्वत ही जाग्रत अव
में विषयों की विस्मृति हो जानी चाहिए क्योंकि सत
स्वरूप सत है और सत् वस्तु देश काल तथा वस्तु के
से व्यभिचारी नहीं होती सदा स्वरूप विषय स्थित
है। इसी प्रकार जो स्वरूप जाग्रत में है वही स्वप्न में
और जो स्वप्न में है वही सुषुप्ति में भी है और
सुषुप्ति में है वही जाग्रत में है। अतः तीनों अवस्
स्वरूप सत् है। अन्तर केवल इतना है कि जाग्रत में
शरीर और स्थूल इन्द्रियां तथा अन्तःकरण सहित
अपनी चैतन्यता का अनुभव करता है और स्व

केवल सूक्ष्म शरीर इन्द्रियां तथा अन्तःकरण सहित होकर अपनी चैतन्यता का अनुभव करता है और सुषुप्ति में स्थूल सूक्ष्म शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण से रहित होकर अपने आपमें मग्न होता है। तात्पर्य यह है कि जाग्रत और स्वप्न में अनेकता से तद्रूप होता है और सुषुप्ति में अद्वैत होता है। जीव का जो अनेकता के साथ बहुत काल से सम्बन्ध है। इससे यह एकता को प्रिय नहीं समझता। यदि किञ्चित विचार करके देखो तो जाग्रत और स्वप्न दोनों सुषुप्ति के कार्य हैं और सुषुप्ति कारण है। अर्थात् सुषुप्ति वह अवस्था है कि जब सूक्ष्म सृष्टि स्थूल सृष्टि जीव ईश्वर पुण्य-पाप मैं तू बन्ध मोक्ष और दूसरे द्वन्द नहीं होते। ऐसी यथार्थ अवस्था में भी विकल्प और संशय इस कारण से उत्पन्न होते हैं कि जिन सज्जनों को अपने स्वरूप का सम्यक बोध नहीं हुआ है केवल संकल्प सिद्ध आनन्द को ही आनन्द मान कर निर्विकल्प अवस्था को निरर्थक समझते हैं।

यदि यह शंका करो कि परमात्मा जिसको कहते हैं वह तो निःसंकल्प वस्तु है यह वचन हमने विद्वानों के मुख से सुना है अर्थात् उसमें कोई फुरना नहीं अब यह

बताओ तो फिर सुषुप्ति और तुर्या में क्या सुषु
रहा ? यदि कहो कि सुषुप्ति उपाधि से उत्पन्न होकर
तो हम कहते हैं कि जैसे उत्पत्ति होती है होने दो त
संकल्प तो नहीं होता और जहां संकल्प का अभाव
वह तुर्या है और परब्रह्म रूप है। इस शंका का यह उत्त
है कि निश्चय करके सुषुप्ति अवस्था में कोई होक
नहीं होता केवल आनन्द घन रूप अवस्था है इसलिये
अवस्था परमात्मा रूप है। इस अवस्था के ज्ञान का कही
तुर्या है अर्थात् जाग्रत अवस्था में तत्व विचार वा सफाई
के आश्रय सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त करना तुर्यारूप
से कहलाती है अर्थात् साक्षीभूत वृत्ति का नाम तुर्या और
तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण संकल्पों से रहित होकर आन
आप में स्थित होना इससे तुर्या और सुषुप्ति में ज्ञान
ज्ञान का ही भेद है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था है इन्द्रि
तुर्या उसी का ज्ञान है। यद्यपि शास्त्रों में सुषुप्ति अनिर्व
अज्ञानमय कही है, परन्तु यह वचन केवल इन्द्रिय सच
अन्तःकरण को सम्मुख करके कहा है। स्वरूप के कि
होकर नहीं कहा और अब स्वरूप को सम्मुख रख अर्थ
सुषुप्ति को तुर्यारूप सिद्ध किया जाता है। ज्ञानी केवल
जाग्रत अवस्था में सुषुप्ति का अनुभव करते हैं आ

सुषुप्ति में जाग्रतरूप वर्तते हैं अर्थात् जाग्रत अवस्था में समस्त इन्द्रिय और अन्तःकरण के होते हुए इनके सम्बंध से तत्व विचार के द्वारा मुक्त होकर अपने सत्, चित्त, तथा आनन्द स्वरूप में स्थित रहते हैं। और सुषुप्ति अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रिय और अन्तःकरण से रहित होकर केवल सत्, चित्त, आनन्दरूप से रहते हैं। इससे इन्द्रिय और अन्तःकरण की दृष्टि करके जाग्रत में सुषुप्ति कही गई और स्वरूप दृष्टि करके सुषुप्ति में जाग्रत कही गई। वास्तव करके दोनों अवस्था में सत्, चित्त, आनंद रूप है। परन्तु इतना भेद है कि जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्बन्ध कर अपने स्वरूप का पूरा २ भान नहीं होता इसी से उसको किसी न किसी साधन द्वारा दमन करना पड़ता है और सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय और अन्तःकरण का सम्बन्ध नहीं रहता। इससे निर्यत्न ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है और जब सत्संग और सच्छास्त्र के विचार द्वारा जाग्रत अवस्था में जानता है कि अबभी मेरा वही स्वरूप है जो सुषुप्ति अवस्था में था अर्थात् मैं इन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्बन्ध से रहित केवल सत् चित्त आनन्दरूप हूं इसी का नाम तुर्या है। आशय यह है कि ज्ञान सहित जाग्रत अवस्था तुर्या है।

ौर

और ज्ञान उसी का स्वरुप है जो कि सुषुप्ति
रहता है।

वैसे तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तुर्या इन शब्दों
अर्थ बोधवान के निश्चय में पांचों अवस्थाओं
होना मिथ्या है क्योंकि आत्मा सर्वकाल में जा
और जाग्रत उसी का नाम है जहां कुछ अनुभव
सत्ता सदा जाग्रत रुप है। जैसा पदार्थ आगे
उसी का अनुभव करता है, अब देखो सुषुप्ति
स्वतः सिद्ध समाधि है परन्तु सामान्य जीवों को
सिद्ध वस्तु पर सन्तोष तथा शान्ति नहीं होती
यत्न सिद्ध वस्तु को श्रेष्ठ मानते हैं और तत्वदर्शी
सिद्ध वस्तु को उत्तम जान कर शान्ति का
लगाते हैं अब देखो कि चौबीस घन्टे में तीन
बीत जाती हैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुशुप्ति।
अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म सामग्री अपने
लीन होती है। केवल आनन्दघन मन, चित्त,
अगोचर वाणी से परे कैवल्य का रुप होता
स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म सामग्री अपने कारण
होकर प्रतीत होती है। और सूक्ष्म रुप से
साथ तादात्म्य सम्बन्ध को ... स्थित

ार जाग्रत अवस्था में सूक्ष्म सामग्री स्थूल भाव को प्राप्त होती है और चैतन्य भी स्थूल से सम्बंध करके आपको स्थूल जानता है और जब श्री गुरु मुख से महा वाक्य सुनता है और जब निज स्वरूप का खोज कर देखता है कि मैं तो केवल सत्ता मात्र चिदाकाश रूप हूं। चिदाकाश की परिभाषा यह है कि नेति २ के पश्चात् जो अनादि पद शेष रहता है उसका नाम चिदाकाश है उसी को तुर्या अतीत पद कहते हैं चिन्मात्र का नाम तुर्या पद है। मेरे में सूक्ष्म और स्थूल सामग्री का भाव और सम्बन्ध नहीं है तब सूक्ष्म और स्थूल सामग्री के होते हुए भी आपको कैवल्य निश्चय करता है और पुनः देखता है कि मुझमें सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रतावस्था यह तीनों नहीं हैं। क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म सामग्री के भाव का नाम जाग्रत और स्वप्न है और स्थूल तथा सूक्ष्म सामग्री के अभाव का नाम सुषुप्ति है।

और मेरा स्वरुप भाव और अभाव से रहित है मैं इन तीनों अवस्थाओं के सम्बन्ध से पृथक हूं। इस ज्ञान का नाम तुर्या है इसलिये सुषुप्ति अवस्था में स्वरूप मात्र कहा गया है अतः जिज्ञासु की वृत्ति को स्थिर करने के लिये सुषुप्ति को जाग्रत और स्वप्न से श्रेष्ठ माना गया

हैं वास्तव में तो तीनों ही कल्पित हैं जब यह
कल्पित हैं तो इनकी अपेक्षा करके जो तुर्या सिद्ध
है वह भी कल्पित है। इस कारण जाग्रत, स्वप्न, सु
और तुर्या से अतीत सत् वस्तु आप में आप स्थि
इस विचार को धार कर यही निश्चय करना
कि सुषुप्ति में स्वरूप को भूलना नहीं किन्तु स्वरू
होता है क्योंकि भूलना उस समय होता है जब
नहीं होती है सो जाग्रत में स्मृति अथवा स्मृति
इच्छा होती है इससे स्मृति के भूल जाने का भी
होता है। सुषुप्ति में स्मृति का अभाव होने से
भी नहीं होता। इससे जाग्रत अवस्था का आनन्द
पाधिक होने से नित्य नहीं और सुषुप्ति अवस्था
आनन्द निरुपाधिक होने से नित्य है। अर्थात् सु
के समय अपने स्वरूप भूत आनन्द के बिना दूसरा
वहां कुछ भी अनुभव नहीं होता इससे वह आ
स्वरूप है। अतः सबको सिद्ध है। प्रायः मनुष्यों
यह शंका है कि सुषुप्ति में हम अपने स्वरूप से
रहते हैं यह शंका आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न होती
आत्मा का आत्मत्व भाव किसी भी अवस्था में
रुप नहीं होता। जब आत्मा में अज्ञान का अ

भाव है तो स्वरुप से अज्ञात हो जाने का क्या तात्पर्य
। स्वरुप हमारा आत्मा है और आत्मा ज्ञान स्वरुप
कभी भी अज्ञान स्वरुप नहीं होता। तुम लोग अपने
ापको पहिचानो तुम आप ही स्वरुप हो और फिर
छते हो कि हम स्वरुप से अज्ञात हो जाते हैं इससे तो
सा ज्ञात होता है कि तुम आपको कुछ और मानते हो
ौर स्वरुप को आपसे भिन्न कुछ और मानते हो। बस
ही अज्ञान है। तुम आप स्वरुप हो और सदा आप में
ाप हो आपको कोई नहीं देखता दूसरा होकर ही
ापको देखता है जैसे मुख स्वयं आपको नहीं देख
कता, दर्पण के सम्मुख होकर आपको देखता है। उसी
कार सुषुप्ति में स्वरूप ही स्वरुप होता है। इससे यह
ान भी नहीं होता कि मैं आत्मा हूं अथवा मैं ब्रह्म हूं वा
त्, चित्त, आनन्द हूं। जाग्रत अवस्था में शास्त्र और
रु रुप दर्पण के सम्मुख आपको दूसरा होकर देखता
र्थात् जानता है और उसमें आनन्द मानता है सो यह
ानना कल्पित अनित्य और सोपाधिक है और सुषुप्ति
ं जो हमारा स्वरुप है सो निरुपाधिक है उसमें ज्ञान
ौर अज्ञान दोनों नहीं बनते इससे सिद्ध हुआ कि हम
ुषुप्ति की अवस्था में अपने स्वरुप से अज्ञात नहीं

किन्तु ऐसे पद में स्थित है कि जो आनन्द का
भी नहीं बन सकता। इस बात को दृढ़ रखना
कि सुषुप्ति अवस्था में केवल सत्, चित्त, आनन्द
है बुद्धि जिसका धर्म ज्ञान है वह अपने कारण में
होती है और पुनः वह बुद्धि जाग्रत अवस्था में
के आश्रित होकर कहती है कि मुझको कुछ खबर
सो यह कहना बुद्धि का धर्म है इस बेखबरी से
का अभाव सिद्ध नहीं होता, किन्तु यह सिद्ध होता
कोई सत्ता ऐसी शेष रहती है जो इस बेखबरी
प्रकाश करने वाली थी और फिर वह भी वस्तु थी
जहां बुद्धि जा कर जड़ हो गई। इससे सिद्ध हुआ
उस अवस्था में केवल स्वरूप ही होता है ऐसी स्वरूप
अवस्था में ऐसी शंका करना कि हमारा तो समय
नष्ट हो गया योग्य नहीं। यह कथन अल्प
दर्शी का है।

प्रश्न ३६—सुषुप्ति अवस्था में आपने
निषेध कर दिया और आत्मा को शेष रखा यह
विरुद्ध है क्योंकि वहां अज्ञान रहता है जाग्रत
में उसकी स्मृति होती है कि अहं न जानामि।

उत्तर—वहां अज्ञान भी नहीं यदि कहो कि

अवश्य रहता है तो हम पूछते हैं कि किस वस्तु का वहां अज्ञान है यदि कहो कि जगत का अज्ञान है तो यह नितान्त भूल है क्योंकि जगत है ही नहीं तो सुपुप्ति में उसका ज्ञान और अज्ञान कैसा और यदि जगत के अभाव काल में भी जगत् की अप्रतीति होने को अ-ज्ञान कहते हो तो समाधि में भी अज्ञान मानना पड़ेगा। यदि स्वरूप का अज्ञान मानते हो अर्थात् आत्मा का तो हम तुमसे पूछते हैं कि क्या समाधि में आत्मा का विशेश रूप से ज्ञान रहता है। यदि नहीं रहता ऐसा कहो तो फिर सुशुप्ति मेंभी विशेपरूप से आत्मा का ज्ञान नहीं रहता तो फिर सुपुप्ति को हेय दृष्टि से क्यों देखते हो यदि अनुभव द्वारा पक्षपात छोड़ कर विचारोगे तो सुशुप्ति और समाधि दोनों ही में ज्ञान और अज्ञान का अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि मैं निर्विकल्प आत्मा हूं सत् चित, आनन्द रूप आत्मा हूं। ऐसा ज्ञान समाधि में भी नहीं होता। यदि समाधि में ऐसा ज्ञान मानोगे तो वहां द्वैत होने से समाधि कालक्षण ही न रहेगा और यदि समाधि काल में समाधि सुख का विशेष रूप से ज्ञान मा-नोगे तो समाधि का सुख ब्रह्मानन्द न कहला कर विषय आनन्द कहा जावेगा और सुपुप्ति के सुख को ब्रह्मानन्द

न मानोगे तो वह भी विषय आनन्द मानना पड़े
इस दशा में अन्तःकरण से जिसके द्वारा विषय
अनुभव किया है और विषय दोनों मानने पड़ें
सुषुप्ति तथा स्वप्न में भेद कहना असङ्गत होगा।
सुषुप्ति और समाधि दोनों में ब्रह्मानन्द ही मानें
हानि नहीं, यदि यह शङ्का करो कि तो फिर समा
सम्पादन करने में वृथा परिश्रम क्यों किया जाय
सुषुप्ति तो प्रत्येक मनुष्य को होती है। चाहे ज्ञा
चाहे अज्ञानी हो यहां तक कि पशु पत्ती तक
प्राप्त है तो फिर सबको कृतकृत्यता की प्राप्ति
नहीं होती ? इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति
समाधि की अवस्था एक जैसी है किंचिद् भी भेद
किन्तु प्रवेश तथा उत्थान काल में भेद है, अतः
पुरुष आपको कृतकृत्य नहीं मानता। जैसे एक
में दो मनुष्यों को सन्तरा खाने की बड़ी इच्छा
दैवयोग से एक को किसी के यहां मेहमानी
सन्तरा खाने को मिल गया। परन्तु उसने यह न
कि यही सन्तरा है अर्थात् इसी का नाम सन्त
खाने से पूर्व तथा पश्चात् उसको सन्तरा खाने
सन्तरा खाने की इच्छा बनी रही। और

जानता रहा कि मैंने आज तक कभी भी सन्तरा नहीं खाया और दूसरे मनुष्य को उसके मित्र ने सन्तरा दिया और कहा कि देख यही वह नागपुर का सन्तरा है ले खा ले, जिसकी तुम्हें बहुत काल से इच्छा थी। देख यह वही सन्तरा है। उसको सन्तरा खाने से पूर्व तथा पश्चात् बड़ी प्रसन्नता हुई। और पश्चात् में भी उसने कभी संतरे का अज्ञान नहीं अनुभव किया सन्तरा खाकर सन्तरा का आनन्द दोनों को बराबर ही हुआ परन्तु एक को तृप्ति प्राप्त हो गई और दूसरे को न हुई। इसी प्रकार सुषुप्ति और समाधि दोनों में ब्रह्मानन्द है परंतु सुषुप्ति वाले को कृतकृत्यता नहीं प्राप्त होती, समाधि वाले को होजाती है जैसे जानकर संतरा खानेवाले को अधिक आनन्द प्राप्त होताहै तथा जैसा ज्ञान में आनन्द है वैसा समाधि में नहीं। कारण यह है कि समाधि में भी विशेष आनन्द का अनुभव नहीं होता और सुषुप्ति में भी नहीं होता कारण यह है कि अन्तःकरण का अभाव दोनों में है। और सुषुप्ति तथा समाधि में केवल अन्तर इतना है जितना (क) और {क} में है इन दोनों ककारों का स्वरूप तो समान है परन्तु कोष्ठ के आकार में अन्तर है इसी प्रकार सुषुप्ति और समाधि मात्र में भेद नहीं है।

प्रवेश और उत्थान काल में ज्ञान सहित का नाम
है। सुषुप्ति वाले को कर्तव्य शेष रहता है और
वाले को नहीं रहता। परन्तु अज्ञान को सच्चिद
मानोगे तो इसमें कोई युक्ति प्रबल नहीं है और
से भी देखो कि सुषुप्ति में अज्ञान प्रतीत नहीं
सुषुप्ति में अपने निज स्वरूप अर्थात्
स्वरूप ब्रह्मरुप में स्थिति हो जाती है परन्तु
से मुक्त नहीं होता गहराई से सोचो मानना
आत्मा एवं आत्मा के स्वरुप में किञ्चिद् भी भेद
मुक्ति तो ज्ञान से होती है और किसी प्रकार के
होती-ज्ञान रूपी अग्नि की आवश्यकता कब
जब अज्ञान रूपी कूड़ा करकट एकत्र हो जाता है
तुम यह निश्चय करो कि स्वप्न काल में तथा
काल में इसको स्वरुप का अज्ञान नहीं है।
विचारो—औरों की दृष्टि से मत देखो अपने
देखो तथा आनन्द में आकर यह गाओः—

आत्मा त्वं गिरिजा मति सहचरा प्राणाः शरीरं
पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधिस्थितिः
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिस्तोत्राणि सर्वा
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं

प्रश्न ३७—समाधि किसको कहते हैं और उसका धन क्या है ?

उत्तर—नाम रूप का त्याग करके ठहरना समाधि होता है इसी से हृदय में तथा बाहर जगत् में समाधि करे । नाम रुप की ओर जाकर उनका ज्ञान करने वाली बुद्धि है नाम रुप अनेक हैं इसी से बुद्धि भी अनेक वृत्ति वाली होती है बुद्धि की वृत्ति को नाम रूप से हटा देने पर शेष रहे हुए आत्म स्वरूप अधिष्ठान सच्चिदानन्द की वृत्ति होती है । वही परम ब्रह्म है एक होने से तथा क ही प्रकार की होने से चैतन्यमय होकर वृत्ति की थकता भी जाती रहती है। इस दशा में बुद्धि को समान ने से समाधि कहते हैं । अर्थात् विषय वासना रहित थायोग्य तत्व को देखने वाली जो सम बुद्धि है उसको ण्डित जन समाधि कहते हैं । जगत् के पदार्थों की बुद्धि नेक प्रकार की ओर चंचल होने से विषम बुद्धि होती और सच्चिदानन्द स्वरूप होने से उसमें गई हुई बुद्धि ी वृत्ति भी सम होती है। इसी से उसको समाधि कहते । वस्तु कोई भी हो उसका नाम रूप हटा देने से नाम प का अधिष्ठान सब स्थलों में एक ही होता है इसी समाधि अस्ति भाति प्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही

होती है। बाहरी दृश्य की अपेक्षा हृदय की समा
सरलता है, क्योंकि हृदय से जीव भाव का उत्थान
है इसी से हृदय की समाधि में जीव भाव की
नहीं रहती बाहर की समाधि में समाधि करने
समाधि के स्थान से पृथक् रहकर करता है।
कुछ कठिनता है समाधि में समाधि करने वाला
नहीं रहता तो भी उत्थान काल में मैंने ब्रह्म का
वस्तु में बोध किया ऐसा ज्ञान होना सम्भव है।
भिन्नता सहित बोध अद्वैत ज्ञान नहीं है यदि
करने से भी अद्वैत का बोध न हो और अपना
अभिमान व्यक्तित्व भाव नष्ट न हो तो समाधि
है ऐसी ज्ञान समाधि कथन मात्र है इससे स्वस्वरूप
प्राप्ति नहीं होती अर्थात् मोक्ष देने वाली नहीं होती
मनुष्य उपरोक्त कही हुई समाधि को प्रतिदिन
वह अनात्म के समस्त संस्कारों से रहित होकर
स्थिति को ही प्राप्त होता है समाधि में ही तत्व
प्रत्यक्ष होने से दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है
अविद्या निवृत्त हो जाती है ज्ञान समाधि में विचार
मुख्यता है और योग समाधि में क्रिया सहित विचार

योग समाधि-धारणा, ध्यान और समाधि-इन

होती है ज्ञान समाधि करने वाले में भी यही क्रम होता है। निर्विकल्प समाधि में किसी प्रकार का विकल्प नहीं होता क्योंकि वृत्ति ब्रह्माकार होकर अद्वैत अखण्ड रूप को प्राप्त हो जाती है वृत्ति की भिन्नता नहीं रहती। वृत्ति निरोध भी उसी का नाम है सुषुप्ति की दशा में भी सी प्रकार की एकता होती है, परन्तु वृत्ति का लय अन्तःकरण के अज्ञान में होता है और निर्विकल्प समाधि अज्ञान सहित अन्तःकरण का लय चैतन्य में होता है सी से ब्रह्माकार वृत्ति भी अपने व्यक्तित्वभाव को छोड़ र चैतन्य मय हो जाती है उसी को निर्विकल्प अथवा असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसका साधन सविकल्प माधि है। बारम्बार सविकल्प समाधि के करने और विकल्प के संस्कार से निर्विकल्पता की प्राप्ति होती है विकल्प समाधि के संस्कार अविद्या के संस्कारों को र्थात् देह आदि में आत्म बुद्धि होने से जो संस्कार पड़े ए हैं उनको नाश करके निर्विकल्प समाधि के उपयोगी स्कारों को बढ़ाते हैं और उत्थान के संस्कारों को क्षीण रते हैं अर्थात् अनात्म संस्कारों का नाश करते हैं या अद्वैत भावना के संस्कारों की वृद्धि होती है।

अन्तःकरण में बहुत काल के पड़े हुए जगत के भावों

के संस्कारों का नाश स्वरुप के साक्षात्कार करके ही
है। चित्त की वृत्तियां अनेक दृश्य और अदृश्य
में भटका करती हैं (वासना और संस्कारों में भी
करती हैं।) मन किसी भी इन्द्रिय के सहारे विष
भटका करता है और अन्दर में संस्कार और स्मृ
सहारे भटका करता है इसलिये मन स्थिर नहीं हो
मोक्ष की इच्छा करने वाला मुमुक्षु इन्द्रियों को वश में
है जब समस्त इन्द्रियां अपने २ विषयों को छो
मन के साथ जुड़जायें और बाहर की ओर प्रवृ
अथवा वैराग्य के बल से इन्द्रियों को विषय की
हटाकर मन से युक्त कर देना प्रत्याहार नाम
गया है। जब तक इन्द्रियां अपने अधिकार में नहीं
तब तक मन को लक्ष्य की ओर जाने नहीं
अभ्यास में वैराग्य की मुख्यता है, शब्द आदि
में दोष दर्शन करने से तथा बारम्बार बुराई
रखने और वैराग्य की भावना से इन्द्रियां अपने २
से लौट आती हैं इस स्थिति का नाम प्रत्याहार है।
हार की कुछ सिद्धि के साथ २ धारणा का भी
चला करता है, धारणा का देश दो प्रकार का
एक बाह्य देश और दूसरा अन्तर देश।

सूर्य, तथा चन्द्र, तारा देवता की मूर्ति अथवा शास्त्र निश्चित सगुण ईश्वर का स्वरुप वा पूर्ण ब्रह्म वेता ज्ञानी अथवा वीतराग पुरुष आदि से लेकर अनेक पदार्थ हैं किन्तु विषय आसक्त अथवा आश्रमच्युत मनुष्य नहीं। अन्तर में पांच तत्व हृदय कमल आदि सात चक्र नासिका जिह्वा भृकुटि आदिक हैं। वैसे तो ध्यान बहुत प्रकार का होता है जैसाकि हम लिख आये हैं और वही ध्यान अधिकार के कारण यथेष्ट ही है परन्तु सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म का ध्यान ही सबसे श्रेष्ठ है। ध्यान जब दृढ़ होता है तब समाधि होती है ध्यान के बिना समाधि नहीं होती और धारणा के बिना ध्यान नहीं बनता और धारणा के लिये मन सहित इन्द्रियों को विषयों से हटाना होता हैं क्योंकि मन सहित इन्द्रियों का वश किये बिना कोई भी समाधि को प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् मन को उपशम कर के ही आत्म पद की प्राप्ति कर सकता है।

तत्वमसि आदिक महावाक्य के, सहारे जो बोध हुआ है अर्थात् जो तत्वं समझा गया है उसके शब्दादिक को हटाते हुए अपना प्रत्येक रूप परमतत्व व्यापक ब्रह्म रूप से जो धारण किया है उस धारणा को करते २

अभ्यास के बल से हृदय में आनन्द स्वरुप के आश्रि
कांम क्रोध तथा मोह संकल्प आदि दृश्य वृत्तियों
अनुसन्धान छूट जाता है और मैं असङ्ग हूं, आ
कूटस्थ हूं, द्रष्टा हूं, इत्यादि शब्दों को भी त्या
तुष्णीं भाव को प्राप्त होता है। यदि कोई मनुष्य
योग के द्वारा समाधि करना चाहे तो शरीर के
जो स्वाभाविक ध्वनि हुआ करती है उसी के ऊपर
को लगाकर ध्यानकरने से श्रेष्ठ ध्यान होता है औ
ध्यान परिपक्वता को प्राप्त होता है तब प्राण
कर बन्द हो जाते हैं फिर वह ध्वनि स्पष्ट
एकता को प्राप्त हो जाती है इस प्रकार क्रिया
द्वारा वृत्तियों के न रहने में जो स्थिति है वह मैं
बोध से ही समाधि फलवती होती है। जो इस
का बोध न हो तो समाधि निष्फल है। ज्ञान
तो विचार सहित होती है--इसी से उसमें असंग
शब्दों को छोड़कर स्वरुप में ही अपने को जाने
समाधि में दृश्य का तथा शब्द का त्याग होता है
तो नाम रुप वाला ही होता है जब नाम रुप का
होगया तब सच्चिदानन्द ही शेष रहता है इसी
जब शब्द का त्याग होता है तब शेष जो रहा

अस्ति भाति प्रिय रूप सच्चिदानन्द ही रहा यही मेरा स्वरुप है ऐसा जानने लगता है।

समाधि में बुद्धि का सम होना है अर्थात् रज तम से रहित शुद्ध बुद्धि सत्व प्रधान होने से स्वयं समभाव में हो जाती है। जो लोग समाधि को जड़ होना कहते हैं वह समाधि को समझते ही नहीं। विषम बुद्धि ही जगत् की बुद्धि है जब बुद्धि अपनी अनेक प्रकार की वृत्तियों वाली विषमता को छोड़ कर समभाव में हो तब सम ऐसा परम् ब्रह्म ही होता है। बुद्धि अनेक प्रकार से सान्सारिक पदार्थों को सच्चे समझ कर भटका करती है। बस नाम रूप ही भटकने का कारण है नाम रूप का त्याग करने से बुद्धि समता भाव को प्राप्त कर लेती है इसी से समाधि है। समाधि में विषयों की हवा तथा आवरण और विक्षेप शक्ति से रहित बोध स्वरुप होना चाहिये चित्त का अभाव होना समाधि नहीं वरन् वृत्ति से रहित चित्त का चैतन्य में स्थित होना ही समाधि है कल्पना रहित होने से और अपने आपका अनुभव होने से निर्विकल्प है इस अवस्था में ज्ञाता ज्ञान दोनों ज्ञेय रूप हो जाते हैं अर्थात् ज्ञेय ही ज्ञेय प्रकाशता है त्रिपुटी नहीं रहती। वायु रहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की शिखा के समान योगी का

चित्त निर्मल हो जाता है। जैसा भगवान कृष्ण ने
में कहा है।

बहुत काल से अविद्या में पड़ा हुआ जीव
करने पर भी अज्ञान की ग्रन्थि से मुक्त नहीं होता
शास्त्रों का ज्ञान उपदेश आदि से भी और
समस्त क्रियाओं से भी शीघ्रता से हृदय का
नहीं होता इसी से जिज्ञासुओं को बहुत काल
अभ्यास करना चाहिये। जब तक जगत का
अच्छे प्रकार से चित्त में स्थिर न हो जाये
जिज्ञासु उन समाधियों में ही अपने काल को
जब तक अहं वृत्ति फुरती रहे तब तक मुमुक्षु
समाधि में रहता है क्योंकि यह मनन की
अवस्था है अर्थात् साधन अवस्था में है
नहीं। स्वरूप का साक्षात्कार निर्विकल्प समाधि में
है जो कि फल स्वरुप है उसमें क्रिया नहीं है
अचिंत चिन्मात्र है न जड़ है और न चैतन्य
न जीव जैसा चैतन्य है न शरीरादि के समान
में सत् है, चित् है, इत्यादि का कथन इसको
नहीं जान लेना वरन् यह चैतन्य के प्रमाद करके
है क्योंकि स्वरूप का बोध होने पर जड़ चैतन्य

करने की आवश्यक्ता नहीं रहती जो मुमुचु इस बात को जानकर वृत्ति को बढ़ाते हैं और बढ़ाकर परिपक्व करते हैं वही पुरुष अति श्रेष्ठ हैं और वही ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं केवल शब्द के कहने वाले अन्य पुरुष नहीं। मुमुक्षु को चाहिये चराचर ब्रह्मांड में रहते हुवे परंब्रह्म में एकता करने वाली मरण पर्यन्त निर्विकल्प समाधि के अभ्यास में लगा रहे जोकि फल स्वरूप है क्योंकि उस करके ही परंपद की प्राप्ति होती है। शब्द के उच्चारण से अर्थ समझ में आता है शास्त्र और परम गुरु के उपदेश शब्द रुप ही होते हैं उस अर्थ से परंब्रह्म का सामान्य ज्ञान ही होता है और तत्वमसि आदिक वाक्य विशेष हैं इससे लक्ष्य द्वारा विशेष बोध होता है. यथार्थ बोध होने पर अपने से अभिन्न अखण्ड ब्रह्म का बोध होता है यह सामान्य ब्रह्म को जानकर विशेष से जाना जाता है और फिर चिन्तन से उसमें चित्त की एकाग्रता होती है इससे मुमुक्षु को आलस्य छोड़कर चिन्तन करना चाहिये। यह चिन्तन ही दृढ़ होकर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त कराता है। जिज्ञासु को पांच बातों का नियम करना चाहिये मितभाषण, अपरिग्रह, निष्कामता, सन्तोष और एकान्त देश में निवास।

प्रश्न ३८—वैराग्य बोध उपरति इन ती[illegible]
साधन स्वरूप फल और पूर्णता की अवधि क्या है[illegible]

उत्तर—इस संसार के और दूसरे संसार के [illegible]
में परिच्छिन्न पना और नाश पना आदिक दोषों [illegible]
दृष्टि है घर मित्र पुत्र धन आदि की आवश्यक्ता [illegible]
को देखने से होती है सो दोषदृष्टि वैराग्य का [illegible]
है। इस लोक के तथा ब्रह्मलोक के जो विषय हैं [illegible]
त्याग की जो इच्छा है सो वैराग्य का स्वरूप है [illegible]
वमन किये हुए पदार्थ के जैसे कोई नहीं खाना [illegible]
इसी प्रकार उपर्युक्त विषयों की नीरसता को [illegible]
वैराग्य वान संसार के विषयों को हेय समझ [illegible]
फिर वह उनकी इच्छा कभी नहीं करते इसके [illegible]
इस देह में से भी वे अपनापन अर्थात् अभिमान ह[illegible]
हैं और विना प्रयत्न के प्राप्त हुए भोगों में जो [illegible]
अदीनता है अर्थात् प्राप्त होने पर बुद्धि फंसती [illegible]
सोई वैराग्य का फल जानना चाहिये और जो [illegible]
लोकों से श्रेष्ठ ब्रह्म लोक है उसको भी एक [illegible]
तिनके की नाई तुच्छ समझना चाहिये अर्थात् [illegible]
बुद्धि होजाय सो यह वैराग्य की पूर्णता की अवधि [illegible]

श्रवण मनन और निदिध्यासन यह तीनों [illegible]

साधन हैं अर्थात् साधन चतुष्टय युक्त मुमुक्षु (जिज्ञासु)
रुप गुरु को सेवा आदि से प्रसन्न करके गुरु के मुख से
ा महावाक्यों के अर्थ का सुनना है वह श्रवण नाम
कहा जाता है अर्थात् तत् त्वं असि आदि महावाक्यों
अर्थ को समझकर गुरु तथा शास्त्र से जीव ब्रह्म की
कता का विश्वास कर लेना यह बोध का प्रथम
ाधन है यह स्मरण रहे कि इन दोनों की एकता का
ान लेना ही पर्याप्त नहीं है वरन् जान कर विचार करे
र्थात् मनन करे जो ज्ञान गुरु के मुख से श्रवण किया
उस पर सम्भावित युक्तियों के साथ स्वयं विचार करे
जससे अर्थ साफ़ हो जायें यह बोध का दूसरा साधन
नन है। उस श्रवण और मनन से समस्त सन्देह दूर हो
ाते हैं और ब्रह्म में चित की वृत्ति को लगातार रखना
र्थात् विजातीय वृत्ति के विना सजातीय वृत्तियों का
वाह भेद संशय से रहित होना यह बोध का तीसरा
ाधन अर्थात् निदिध्यासन है। इस निदिध्यासन अवस्था
ध्यान करने वाला अहंकार, ध्यान की वृत्ति और ध्यान
ी हुई वस्तु अर्थात् ब्रह्म इन तीनों की त्रिपुटि रहती है
ाध का स्वरुप यह है कि मिथ्या शरीर आदिक से अपना
ा प्रत्यक आत्मा का विवेचन है अर्थात् पञ्च कोश

अवधि है।

प्रश्न २६—ज्ञानी को विषय प्रपंच की [illegible] होती है वा नहीं? यदि प्रपंच की प्रतीति न माने तो जीवन मुक्त की सिद्धि न होगी जो कि अवि[illegible] दो शक्ति मानी हैं आवरण और विक्षेप, आवरण [illegible] का तो ज्ञान से नाश माना है और प्रारब्ध कर्म [illegible] शक्ति रहती है और प्रारब्ध रूप संकल्प के बल [illegible] शरीर आदि का नाश नहीं होता किन्तु पश्चात् [illegible] आदि की प्रतीति होती है।

उत्तर—जब ज्ञान से कैवल्य गति की प्राप्[illegible] है अर्थात् विदेह पद की, तो फिर बताओ कि जीव[illegible] कहां रही यदि ज्ञानी को मरने के पश्चात् विदे[illegible] मानोगे तो ज्ञान ऐसा ही ठहरा जैसा कि [illegible] यज्ञ। इसके करने वाले को मरने के पश्चात् स्वर्ग [illegible] है इससे ज्ञान एक पुण्य कर्म हुआ जैसे ज्योति[illegible] यह जो लोगों ने ज्ञानी के प्रारब्ध की कल्पना [illegible] वह यथार्थ ज्ञान से विरुद्ध है यदि तत्वनिष्ठ पु[illegible] प्रारब्ध की सिद्धि करता है वह बोधवान नहीं [illegible] अज्ञान के राजा हैं। जन्मान्तर में किया हुआ [illegible] प्रारब्ध नाम से कहलाता है आत्मा स्वसंवेद्य है [illegible]

थवा तीन शरीरें से विवेक के द्वारा अपने प्रत्यक
ात्मा को प्रथक करें सो बोध का स्वरूप है और अहं-
ार आदिकों के साथ आत्मा का तादात्म्य अध्यास रुप
न्थि का पुनः उत्पन्न न होना सो बोध का फल है।
असम्भावना और विपरीत भावना से रहित) अपने प्रत्यक
ात्मा की ब्रह्म से अभिन्नता का जो ज्ञान है। अर्थात्
जस प्रकार अज्ञानी मनुष्य को अपने शरीर में दृढ़
ात्म बुद्धि होती है कि मेरा स्वरूप यही है तद्वत्
रमात्मा में जो दृढ़ आत्म बुद्धि है यही ब्रह्म साक्षात्-
ार रूप बोध की पूर्णता की अवधि है अर्थात् उस बोध
ी समाप्ति है। अब आगे उपरति का साधन स्वरुप तथा
ल और उपरति की पूर्णता का कथन करते हैं। यम
ियम आदिक उपरति के साधन हैं और मन की सम्पूर्ण
ृत्तियों का जो निरोध है वही उपरति का स्वरुप है तथा
ौकिक वैदिक सम्पूर्ण व्यवहारों का जो अभाव है वही
स उपरति का फल है और सुषुप्ति की तरह सम्पूर्ण
दार्थों की जो विस्मृति है अर्थात् जाग्रत अवस्था में जो
दार्थों की याद आती है वह बिल्कुल भूल जाना जैसे
ुषुप्ति में सम्पूर्ण पदार्थ विस्मृत हो जाते हैं वृति की
सी दशा हो जाय वही उपरति की पूर्णता है अर्थात्

अपने आपको भूल भी कैसे सकता है ज्ञान मात्र
वस्तु स्मृण विस्मृण से सर्वदा रहित है शब्द ही
को नष्ट करता है ऐसा जानने वाला अज्ञान की
बोधवान की दृष्टि में जन्मान्तर का सर्वथा अ
जैसे स्वप्न शरीर अध्यस्त है उसी प्रकार यह दे
अध्यस्त का जन्म कैसे हो सकता है और जन्म न
से प्रारब्ध भी नहीं रहता जिस प्रकार मनुष्य अ
रस्सी के स्थान में सर्प देखता है उसी प्रकार
को न जानकर देहभिमानी मूढ़ बुद्धि पुरुष ही
की कल्पना करता है यदि कोई प्रारब्ध का प्र
करेंगे तो इस प्रारब्ध द्वैत के स्वीकार करने से
अभाव तथा ज्ञान सम्प्रदाय का उच्छेद रुप दो
उपस्थित होंगे तथा अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त
हानि होगी इसलिये प्रारब्ध का प्रतिपादन करने
व्यवहारिक श्रुतियों को छोड़कर जिनसे बोध प्र
उनको ही स्वीकार करना चाहिये अबोधवान
पक्ष रुप करके समझाने के लिये श्रुति माता ने
की कल्पना की है क्योंकि वेद ने आत्मा के ज्ञा
पर कर्मों का क्षीण होना उस प्रारब्ध का निषे
के लिये ही उन वचनों का ...

नी देह का अभिमान है। जाग्रत होने पर जैसे स्वप्न
हीं रहता उसी प्रकार शरीर आदि मिथ्या होने के
रण ज्ञान उदय होने के पश्चात् प्रारब्ध नहीं रहता
ोंकि जन्म जन्मान्तर का किया हुआ शुभ अशुभ कर्म
प्रारब्ध कहलाता है और बोधवान की दृष्टि में जन्म
मान्तर का अभाव होने के कारण वह किसी अवस्था
नहीं है जिस प्रकार स्वप्न शरीर अध्यस्त है तद्वत्
शरीर भी अध्यस्त है फिर बताओ कि अध्यस्त का
म कैसे हो सकता है और जन्म न होने पर प्रारब्ध
कल्पना कैसे की जा सकती है जिस प्रकार मनुष्य भ्रम
कारण रस्सी के स्थान में सर्प देखता है उसी प्रकार
ने यथार्थ स्वरुप को न जानकर ही मूढ़ बुद्धि पुरुष
वत प्रारब्ध आदि को देखता है। जब वह शरीर
ा हुआ प्रतीत होता है तो फिर प्रारब्ध कहां रह
ता है? बस प्रारब्ध का कथन अबोधवान् के सन्तोष
लिये आचार्यों ने कल्पा है। क्या अविद्या का भी कोई
है जो ज्ञान से तो अविद्या का नाश हो जाता है
र अविद्या का लेश अर्थात् विक्षेप शक्ति शेष रह जाती
बोधवान नित्य ही निर्विकल्प सहज अवस्था में स्थित
ता है और शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण और

उनकी चेष्टा को भी अस्ति रुप निश्चय करता है
मात्र भी द्वैत को नहीं देखता वह प्रारब्ध
कल्पना से रहित है जब प्रारब्ध की कल्पना ही
फिर बाधतानुवृत्ति भी कपोलकल्पित है। स्वरूप
जीवन्मुक्ति आदि की कोई कल्पना नहीं इसलिये
प्रारब्ध आदि की कल्पना को त्यागकर और
यथार्थ जानकर विकल्प और संशय से रहित
अक्रिय पद में स्थित होकर अपने अद्वैत
मग्न रहता है।

प्रश्न ४०—शुद्ध साक्षी किस को कहते
माया को सतोगुणी किस अवस्था में तथा रजोगुणी
गुणी किस अवस्था में कहते हैं ?

उत्तर—जो स्वप्न को देखता है उसे
कहते हैं और जो स्वप्न से जाग्रत होने पर
मात्र अनुभव करता है उस पुरुष का नाम
है और जो जाग्रत पुरुष के सहित इस सम्पूर्ण
अनुभव करता है उसे जाग्रत दृष्टा कहते हैं
नाम स्वप्न दृष्टा भी है और वही शुद्ध साक्षी
क्योंकि समस्त स्वप्न तथा जाग्रत अवस्था को
करता है जिस प्रकार वस्त्र के ऊपर

रड़े से प्रथक् नहीं होते और जैसे मूर्ति पत्थर से प्रथक् ीं होती उसी प्रकार यह चराचर जगत इस से प्रथक् ीं होता। माया नाम सर्वज्ञ वृत्ति का है जब वह वृत्ति न रुप होती है तब उस माया को सतोगुणी कहते हैं र जब कर्म रुप से होती है अर्थात् जब वह लौकिक ा पारलौकिक कार्यों में अपनी उदारता दिखलाती है ा वह रजोगुणी कहलाती है और जब दया, धर्म, ाग्य, विचार, उदारता, शान्ति, ज्ञान आदि में प्रवृत ती है उस समय इस माया को सतोगुणी वृत्ति से कहा ते हैं और चतुराई चंचलता संसारी विषयों में प्रीति णा, लोभ, अहंकार, राग, द्वेश तथा व्यवहार आदि या की रजोगुणी वृत्ति है और तीसरी अधर्म, मूढता, आलस्य, निद्रा, क्रोध हिंसा आदिक यह तमोगुणी वृत्ति होते हैं इसी प्रकार जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति आदिक जानो इसी प्रकार मनुष्य, पशू पक्षी तथा कृमि कीट और स्थावर आदि योनियों को भी जानो इसप्रकार माया अर्थात् वृत्ति के तीन स्वरुप हैं सो वृत्ति स्वरूप से एक है,तमो गुणी वृत्ति अस्ति रुप है, रजोगुणी वृत्ति भाति रुप है और सतोगुणी वृत्ति प्रिय रुप है इसलिये सर्व जगत और

रूप है दूसरा न कोई है, न हुआ और न होगा न
एक सत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित कि
मौन को धारकर स्थित है जहां किसी पदार्थ का उस
त्व ही नहीं वहां शुद्ध साक्षी सर्व साक्षी माया चैत
का कथन ही क्या हो। ज्ञान वस्तुतः अद्वैत को चैत
जिसमें एक को छोड़कर और दूसरा कोई होता कह
जब सबके साक्षी में अद्वैत रूप से स्थिति होती प्रा
साक्षी की अपेक्षा रहित उसे साक्षी भी नहीं का रहि
वह स्वयं सिद्ध तत्व ही है जो स्व संवेद्य है। नम

प्रश्न ४१—अखण्ड वस्तु का ज्ञान साक्षी को का
है वा जड़बुद्धि को ? यदि कहो कि साक्षी को है उस
तो चैतन्य विकारी ठहरेगा और यदि कहो हैं,
बुद्धि को तो यह भी नहीं बनता क्योंकि जैसे जड़ स
में किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं बनता उसी प्रकार ब
वस्तु का ज्ञान नहीं बनता।

उत्तर—इसका समाधान यह है कि न तो हो
चैतन्य को ज्ञान होता है और न केवल जड़ बुद्धि
किन्तु अन्तः करण की ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ़ हर
चैतन्य सहित वृत्ति को अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान है प्रा
दृष्टान्त में दिखाते हैं जैसे दर्पण में स्थित चक्षु र्त

न अपने करके होता है न दूसरे वस्तु करके होता है किन्तु दर्पण में स्थित होकर चक्षु ही आपको देखता है उसी प्रकार अखण्डाकार वृत्ति में आरुढ़ होकर विशेष चैतन्य ही अपने आपको देखता है अथवा यों कहो कि चैतन्य की सहायता से चैतन्य विषय करता है ऐसा कहने से सिद्धान्त में कोई हानि नहीं आती वृत्ति में आरुढ़ चैतन्य को फल चैतन्य कहते हैं और वृत्ति से रहित सत्ता मात्र चैतन्य को समान चैतन्य कहते हैं। समान चैतन्य में सत्ता स्फूर्ति देने के सिवाय और कोई कार्य नहीं बनता बन्ध मोक्ष आदिक जो कार्य हैं सब इसी फल चैतन्य में हैं अर्थात् चिदाभास नाम के जीव में, इसलिये सिद्धान्त में चिदाभास जीव मिथ्या होने से उसके कल्पे हुए बन्ध मोक्ष आदि जितना भी जगत है सब मिथ्या है।

प्रश्न ४२—जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति किस को कहते हैं इन दोनों में प्रथम कौनसी है ?

उत्तर—जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं की अपेक्षा करके जो तुर्या अवस्था है उस तुर्या अवस्था के विषय आत्मरूप ज्ञेय वस्तु ज्ञातारुप योगी पुरुष से भिन्न प्रतीत होती है उस आत्मा के ज्ञान करके ही इस जीव

की अध्यात्मिक आदि सब दुखों से निवृत्ति होती है परमानन्द रूप फल की प्राप्ति होती है। वह योगी योगाभ्यास के बल से सम्प्रज्ञात समाधि को तथा असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता है। इस असम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञाता ज्ञान तथा ज्ञेय यह त्रिपुटी ज्ञात नहीं होती और जहां समाधि में त्रिपुटी ज्ञात होती है उस समाधि का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। जिस काल में योगी पुरुष को त्रिपुटी के भान पूर्वक ब्रह्माकार वृत्ति होती है उस काल में वह योगी पुरुष तुर्या अवस्था वाला होता है और जिस काल में त्रिपुटी में अद्वैत ब्रह्म नाद में लय भाव को प्राप्त होता है उस काल में वह योगी पुरुष तुर्या अतीत अवस्था वाला विदेह मुक्त हो जाता है। त्रिगुण अभिमानयों को ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी उनका वह ब्रह्मज्ञान अज्ञान रुपी निद्रा के विना न होता है उस शुष्क अधीत ब्रह्म ज्ञान से मूलकारण अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती इससे यह बात सिद्ध हुई कि जीवन मुक्त का तो यह भाव है कि प्रथम सत् चित् आनन्द विशेषणों सहित अपने आपको जानकर पश्चात् निश्चय करता है कि मेरे स्वरूप में असत् जड़ दुःख रूप प्रपञ्च किञ्चित मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस कारण से

निषेध करने वाले सत् चित् आनन्द आदि जो विशेषण हैं इनका भी मेरे स्वरूप में सम्बन्ध नहीं है फिर विचार करता हुआ कि मेरे स्वरूप में सर्व द्वैत प्रपंच के अभाव का भी सम्बन्ध नहीं है अर्थात् अभाव का भी अभाव है (छटी भूमिका पदार्थ अभाविनी) उसके पश्चात् फिर विचार करता हुआ कि अभाव के अभाव का जो चैतन्य रुप वृत्ति है उसका भी मेरे स्वरुप में सम्बन्ध नहीं है अर्थात् अखण्डाकार वृत्ति को भी त्यागता हुआ इस प्रकार से परम मौन रुप स्थिति को प्राप्त होकर सर्व संशयों से रहित होता है किंचित विचार करके देखा जाये तो स्वरुप में अध्यारोप अपवाद की गन्धमात्र भी नहीं है क्योंकि अखण्डाकार वृत्ति के अभाव हुए पश्चात् अर्थात् उत्तर क्षण में स्वभाविक ही स्फूर्ति होती है कि मेरे स्वरुप में अज्ञान ने कभी भी प्रवेश नहीं किया और न ज्ञान ने प्रवेश किया और न मेरे स्वरुप में बन्ध है और न मोक्ष है और न मेरे स्वरूप में सविकल्पता हुई मुझको तो अपना आपा नित्य प्राप्त है किसी साधन करके मेरे स्वरूप की प्राप्ति होती नहीं इस प्रकार अपना आपा स्वयं प्रकाश रुप करके सदैव स्थित है इस सूक्ष्म आशय के बिना जाने अनेक शंकायें फुरती हैं पूर्वोक्त

प्रकार से विदेह मुक्ति जीवन मुक्ति * से प्रथम है और जीवन मुक्ति पश्चात् होती है अखण्डाकार के अभाव को विदेह मुक्ति कहते हैं अर्थात् सामान्य चैतन्य रूपी भूमि पर वह स्थित होता है अखण्डाकार वृत्ति के भाव को जीवन मुक्ति कहते विद्वान (बोधवान) की स्थिति में किसी प्रकार की सम्भव नहीं तथा उसकी स्थिति शून्य रूप भी नहीं कि शून्य की सिद्धि भी मन तथा वाणी करके है और उसकी स्थिति में वाणी का प्रवेश नहीं ।

नान्तप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥माण्डूक्य०॥

प्रश्न ४३—यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड शुद्ध है

---

*नोट—अधिकांश मनुष्य विदेह मुक्ति को जीवन के पीछे होना मानते हैं कुछ लोग मरने के पश्चात विदेह मानते हैं परन्तु यह दोनों भ्रम हैं जिस प्रकार वकालत पास ही मनुष्य वकालत कर सकता है तथा वही आदमी कार्य में कुशल होता है जो पूरी तरह से सीख लेता है उसी प्रकार मुक्ति का आनन्द वही मनुष्य ले सकता है जिसने विदेह का अभ्यास किया हो ।

रुप शिव कैसे है?

उत्तर---सम्पूर्ण ब्रह्मांड का आत्मा स्थूल शरीर और स्थूल शरीर का आत्मा इन्द्रियां हैं और इन्द्रियों आत्मा प्राण है और प्राण का आत्मा मन है और का आत्मा जीव है तथा जीव का आत्मा ईश्वर है ईश्वर का आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म का आत्मा शुद्ध न्य है इससे सब वस्तु आत्मा करके सिद्ध होती हैं और मा शुद्ध चैतन्य है। इस कारण से सर्व वस्तु शुद्ध चैतन्य हैं जिस करके कोई वस्तु सिद्ध होती है वह वस्तु उस स्वरुप ही होती है अतएव सम्पूर्ण संसार शुद्ध चैतन्य के सिद्ध है और शुद्ध चैतन्य सबका आत्मा है इससे स्त संसार शुद्ध चैतन्य है जैसे चैतन्य रुप आत्मा और जीव का भेद नहीं इसी प्रकार चित्त तथा का भेद नहीं और जैसे चित्त तथा जीव का नहीं है उसी प्रकार कर्म तथा शरीर का भेद अर्थात् कर्म ही शरीर है और कर्म ही चित्त है और ही जीव है तथा जीव ही ईश्वर है और ईश्वर ही त्मा है और आत्मा सर्व रुप एवं सर्वव्यापी शिव है। से यह सिद्ध हुआ कि सम्बन्ध सम्बन्धी आधार तथा धेय आत्मा एवं अनात्मा जगत तथा शुद्ध चैतन्य

रहित वस्तु मात्र आपमें आप स्थित है इस दृष्टि
कर परमपद तुर्या अतीत परम मौन परम शान्त
अवाच्यपद है उसी में स्थित रहना योग्य है।

प्रश्न ४४—विषयों का सम्बन्ध इन्द्रियों
है और इन्द्रियों का सम्बन्ध अन्तःकरण तथा
करण का सम्बन्ध जीव से क्या है और जीव
ईश्वर से क्या है वह कौन सी उपाधि है जो
ईश्वर के मध्य में पड़कर भेद को प्रतीत कराती है
के निवृत्त होने से जीव तथा ईश्वर का भेद स्व
प्रतीत नहीं होता ?

उत्तर—विषयों का इन्द्रियों के साथ विषय
भाव सम्बन्ध है और इन्द्रियों का अन्तःकरण
प्रकाश्य प्रकाशक भाव सम्बन्ध है अन्तःकरण
के साथ विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है और
ईश्वर के साथ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव सम्बन्ध
वह उपाधि अज्ञान जन्य है (अर्थात् अनात्मा
दिक उनमें अपनापन जानना) जिससे जीव और
का भेद प्रतीत होता है इस अज्ञान के निवृत्त
जीव तथा ईश्वर का भेद अर्थात् प्रथक सत्ता
भी प्रतीत नहीं होती—या यों समझो ईश्वर का

व है जैसे सूर्य का प्रकाश दिन है और जीव का प्रकाश
न्तःकरण है और अन्तःकरण का प्रकाश इन्द्रियां हैं तथा
न्द्रियों का प्रकाश विषय रुप जगत है अर्थात् ईश्वर ही जीव
प है तथा जीव ही अन्तःकरण रुप है और अन्तःकरण
इन्द्रिय रुप है और इन्द्रियां ही विषय रुप हैं तथा
षय ही जगत रुप है अर्थात् संसार है और लय चिन्तन
रीति से विषय इन्द्रिय रुप है और इन्द्रियां अन्तः
रण रुप हैं तथा अन्तःकरण जीवरूप है और जीव
वर रूप है, ईश्वर ब्रह्म रूप है। इस रीति से एक
द्वितीय वस्तु अपनी महिमा में स्थित है अज्ञान करके
न्न भिन्न प्रतीत होती हैं जब यथार्थ ज्ञान से अज्ञान की
वृत्ति होती है उस समय सर्व का तदात्म्य सम्बन्ध
र्थात् भेद अभेद रहित सम्बन्ध प्रतीत होता है।

प्रश्न ४५—जब सब ब्रह्म ही ब्रह्म है और ब्रह्म से पर-
त्मा तथा जीवात्मा अभिन्न है और परमात्मासृष्टि की
त्पत्ति पालन तथा संहारकर्ता है परंतु हम तो एक तृण
भी उत्पन्न नहीं कर सकते तो हम परमात्मा से अभि-
न्न किस प्रकार हैं ?

उत्तर—यद्यपि परमात्मा करके संसार की उत्पत्ति
पालन तथा लय होता है, परन्तु सृष्टि की सहायता के

बिना सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार नहीं एवं
कर्ता सृष्टि करके ही सृष्टि की उत्पत्ति होती।
सृष्टि करके ही सृष्टि का पालन भी करता है
करके ही सृष्टि का संहार करता है सृष्टि को
सृष्टि की उत्पत्ति पालन तथा संहार के निमित्त
हेतु नहीं। जब सृष्टि से ही सृष्टि की उत्पत्ति पा
संहार की सामर्थ्य प्रसिद्ध है तो वही परमात्मा
हुई। मैं और तू भी सृष्टि रूप होने से परमात्मा
जैसे बीज वृक्ष रूप है और वृक्ष बीज रूप है तद्व
मात्मा और सृष्टि जिसमें मैं, तू, सब आगये ए
अतएव सम्पूर्ण जगत् ही परमात्मा स्वरूप है कि
ओ कि मैं और तू कहां हैं एक अद्वैत वस्तु आ
मा में स्थित है दूसरी वस्तु न पहिले थी न अब
न आगे होगी।

प्रश्न ४६—वास्तव वस्तु क्या है और
बोध से क्या लाभ ?

उत्तर—वस्तु केवल अस्ति मात्र है और
उसकी शक्ति है और आनंद उसका प्रकाश है
वेद और शास्त्रों में उपदेश और दृष्टांतों द्वारा
आनन्द आत्मा कूटस्थ दृष्टा आदि नामों से

एवं यह सब विशेषण उस चैतन्यशक्ति का विलास है। इसी प्रकार समस्त नाम जो व्यवहार संज्ञा करके शास्त्रों तथा लोकों में प्रसिद्ध हैं चैतन्य शक्ति का विलास मात्र ही है अतएव सदा चैतन्य में रहते हैं एवं चैतन्य रूप हैं क्योंकि पारमार्थिक और व्यावहारिक शब्द तथा अक्षरों का अधिष्ठान केवल चैतन्य है और वह चैतन्य अस्ति मात्र है इसी कारण से सभी अस्ति मात्र हैं और अस्ति केवल कैवल्य रूप है। ऐसा बोध अर्थात् यथार्थ ज्ञान जिस बुद्धि में प्रकाशित होता है अर्थात् उदय होता है वह बुद्धि बोधरूप होकर विक्षिप्तता से रहित होकर शांति का रस लेती है अर्थात् अस्ति मात्र चैतन्य तथा आनंद का लाभ उठाती है और नित्य सत्ता सामान्य अगाध गंभीर निश्चल अडोल स्थिति में रहती है यही ज्ञान का लाभ है।

प्रश्न ४७--मन एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता इसके रोकने का क्या उपाय है?

उत्तर---अन्तः करण में तीन गुणों का प्रवाह उदय रहता है कभी सतोगुण का कभी रजोगुण का तथा कभी तमोगुण का इस प्रवाह को रोकने के लिये कोई समर्थ नहीं जब सतोगुण का प्रवाह उदय होता है तब

उदारता, शान्ति, वैराग्य, उपरामता और सत्
प्रीति तथा रुचि आदिक वृत्तियां अन्तःकरण में
होती हैं जब रजोगुण का वेग होता है तब उसके
राग, द्वेष, चंचलता, व्योहार चतुराई की बातें,
लज्जा विषयों में प्रीति तथा आसक्ति आदि
अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं। और जब तमोगुण
वेग प्रकट होता है उस समय मूढ़ता, आलस्य, निद्रा,
क्रोध तथा मत्सरता आदिक वृत्तियां अन्तःक
उत्पन्न होती हैं इससे सतोगुण का अभ्यास न
अर्थात् अल्प है और रजोगुण तथा तमोगुण का अ
दृढ़ है इसी से रजोगुण तथा तमोगुण की
बलवान् हैं बलवान् वृत्तियां मन को अपनी ओर
करती हैं इस कारण से मनुष्य का मन सत्संग
भजनादि में नहीं लगता और न शास्त्रों के अ
ही में मनुष्य की रुचि होती है। जब सतोगुण का अ
दृढ़ हो और रजोगुण तमोगुण का अभ्यास अ
तब मन सत्संग में अथवा भजनादि में लीन होत
मनुष्य को चाहिये कि मन लगे अथवा न लगे
में जाता रहे तथा भजन करता रहे और धार्मिक
का पाठ भी करता रहे पश्चात् मन दृढ़ने

जब भजन या सत्संग करते २ वृत्ति दूसरी ओर को जाने लगे उसको प्रयत्न करके रोके क्योंकि फुरना वृत्ति का धर्म या स्वभाव है जब तक शरीर है वृत्ति फुरेगी यह नहीं कि वृत्ति पत्थर की तरह फुरने से रहित जड़ रूप हो जाय। सत्संग और सत् विचार से इतना अवश्य होगा कि जो वृत्ति भूत तथा भविष्यत की चिन्तन करती थी उससे हटकर वर्तमान चेष्टा में लगी रहेगी और गृहस्थ और व्यवहार के विषय सेवन आदि के चिन्तन से रहित रहेगी तथा समयानुसार चिन्तन भी करेगी परन्तु लम्बे और निरर्थक मनोराज्य उत्पन्न नहीं करेगी इसी कारण विक्षेप से रहित होकर वृत्ति में चंचलता भी नहीं होगी और सतोगुणी वृत्ति निर्मल होने से सतोगुणी मनोराज्य अर्थात् शास्त्र विचार श्रवण, मनन, स्वरूप चिन्तन सुख दुःख में धैर्य विषयों की प्राप्ति काल में विषयों से उपरामता आदि गुण वृत्ति में होंगे और न्याय आदिक शुद्ध संकल्प वृत्ति में रहेगा यह संकल्प संसार के संकल्पों से बलिष्ठ होकर अधिकारी को यह निश्चय करावेगा कि मेरा मन अब शुद्ध हो गया है अर्थात् अहंभाव के विकार जहां नहीं होते वहां मन नहीं रह जाता।

किञ्चित् और विचार करो कि मन की दो अवस्थाएं

होती हैं। एक स्पन्द और दूसरी निस्पन्द, अर्थात् चञ्चल दूसरी निश्चल। इन दोनों अवस्थाओं के पृथक् २ कार्यों की सिद्धि होती है। मन के चन्चल से व्यवहार की सिद्धि होती है और मन के उपशम से परमार्थ की सिद्धि होती है जैसे पक्षी को अपने खोलने से आकाश में गमन करना होता है और के संकोच कर लेने पर विश्राम करना सिद्ध होता इससे दोनों स्वरुप नीति के अनुसार ठीक ही हैं। के अनुसार इनसे काम लेना शरीरधारी को उचित है। इससे विचार शील को चाहिये कि परमार्थ के मन की उपशमता का आनन्द प्राप्त करे अर्थात् लेवे और व्यवहार काल में मन को स्पन्द रुप फुरनारुप महाशक्ति की महिमा को साक्षी होकर कन करे और आनन्द में मग्न रहे। क्योंकि जब प्राणों का संचार है तब तक व्यवहार रहेगा और की फुरना के बिना व्यवहार सिद्ध नहीं होता यह की मर्यादा है। इससे विवेकी अपने को मन से निश्चय करके मन की दोनों अवस्थाओं में बुद्धि रक्खे। किसी के साथ अपना सम्बन्ध न गांठे मनुष्य निद्रावस्था में बाहर और भीतर के

मेट कर आनन्द लेता है और जाग्रतावस्था में हर और भीतर के अंगों की चंचलता के कारण ने जीवनकाल के सिद्ध होने का लाभ उठाता । यदि जागृतावस्था में अपने अङ्गों को समेट बैठ जाय तो जागृत की पूरी यात्रा सिद्ध नहीं सकती अतएव नीति पूर्वक सम्पूर्ण अङ्गों की दो दो स्थायें चली आती हैं और यह यथेष्ठ ही हैं क्योंकि छिन्न स्वरुप करके भिन्न २ अवस्थाओं के प्रयोजन सिद्धि नहीं होती । यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया तो विराट् भगवान् के अङ्ग भी स्पन्द और निस्पन्द स्था को अर्थात् स्फुरणा रूप और अस्फुरण रूप स्था को धार कर विराट् भगवान् की शोभा और ा को स्थापन कर रहे हैं । इससे यह प्रत्यक्ष दीखने संसार इन दो अवस्थाओं के मध्य स्थित है। इन दोनों अवस्थाओं का नाम संसार है और वहे परमात्म स्वरूप है । इससे स्पन्द और निस्पन्द परमात्मा की शक्तियां हैं । शक्ति शक्तिमान से नहीं होती किन्तु परमात्मा में अभेद रूप से स्थित है अर्थात् अभिन्न रूप से स्थित रहती है । अतएव शक्तियों को परमात्मा का स्वरूप निश्चय करके

निर्विकल्प और निःसंशय रहे । यदि कोई जिज्ञासु
चाहे कि मन सर्वथा सब काल में फुरने से रहित
तो यह कदापि सम्भव नहीं क्योंकि वृत्ति सब
सी दशा में स्थित नहीं रह सकती । कारण यह
मन का सम्बन्ध पांच तत्वों के साथ है और पांच
का सम्बन्ध पांच इन्द्रियों के साथ है और पांच
का सम्बन्ध पांच विषयों के साथ है और पांच
का सम्बन्ध सम्पूर्ण ब्रह्मांड के साथ एक ही
संयुक्त है और सम्पूर्ण ब्रह्मांड विराट् स्वरूप
मन का सम्बन्ध विराट् के साथ है । अर्थात्
किन्तु विराट स्वरुप है जैसे बीज वृक्ष रुप है
मन विराट स्वरुप है । इसकी संकल्प तथा वि
शक्तियां विराट भगवान् के सम्पूर्ण कर्मों तथा
धर्मों, ज्ञानों और यत्नों की प्रवर्तक और साधक
से यह जो मन है मन नहीं किन्तु विशेष चैतन्य
जो सामान्य चैतन्य है उसी की सम्पूर्ण शक्ति
द्वारा प्रकट होकर ब्रह्मांड अर्थात् विराट का
रही हैं । अतएव मन महत् और पूर्ण वस्तु
महत् और पूर्ण वस्तु का वश में करना सर्व
है अतएव विचारवान मन के संकल्प तथा

पय परमात्मा का दर्शन् करे अर्थात् जहां २ मन की वृत्ति विकाश को प्राप्त होवे तहां २ अस्ति भाति प्रिय रूप से ब्रह्म को देखे ब्रह्म से इतर दूसरी वस्तु को नहीं देखे। क्योंकि नाम रुप ही संसार है। वस नाम अस्ति-रुप है, और रुप प्रिय है। अथवा नाम रुप का वाध करके अर्थात् हटाकर पुनः अस्ति भाति प्रिय रुप से ब्रह्म का दर्शन करे। इसी कारण से ब्रह्मज्ञानी के मन की फुरना भी समाधि रूप है और जगत ज्ञानी की समाधि ही फुरना रुप है। जब एक ही परमात्मा त्रिपुटी रुप अर्थात् मन का फुरना और जगत रुप हुआ तत्पश्चात् फुरने और फुरने से रहित का जो विकल्प है वह विकल्प सदैव के लिये निवृत्त हो जाता है। और पुनः जहां तहां एक ही वस्तु का दर्शन होने लगता है। अर्थात् सब स्थानों में एक सच्चिदानन्द त्रिलोकीनाथ भेद रहित दृष्टि आता है। इसी प्रकार से अभ्यास करने वाले पुरुष का मन सर्वदा ब्रह्माकार रहता है। जिसका फल निर्विकल्प शान्ति मुदिता तथा तृप्ति और स्थिति है।

प्रश्न४८—मनुष्य वेदांतशास्त्र पढ़कर तथा विवेक वैराग्य को प्राप्त होकर विकर्म क्रिया क्यों करते हैं?

उत्तर--यह सूखे अध्ययन का फल है
गुरु भक्ति से रहित स्वतन्त्र रुप से वेदान्त शा
अध्ययन है। ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी से वि
होता औषधि खाकर जैसे पथ्य न किया जावे
वेदान्ती होकर यदि व्यवहार शुद्ध न किया जावे
दैवी सम्पत्ति नहीं आई है तो ऐसे सूखे विवेक
से क्या होना है प्रत्युत् ऐसा वेदान्त अध्य
घातक ही हो सकता है। कांस के फूलने पर
नहीं लगता, इसी प्रकार ऐसे शुष्क ब्रह्मज्ञान
पर स्वतन्त्रता रुपी फल नहीं लगता। जो मनुष्य
करते हैं उनको अभी ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि वि
अज्ञान दशा में होते हैं। यद्यपि वाणी से ज्ञान
करते हैं, परन्तु वह ज्ञान उनके कल्याण का हेतु
क्योंकि ज्ञान नाम प्रकाश का है और प्रकाश
यही है कि जो चोट न लगे और पैर न फिसले
चलते गिरे नहीं। मार्ग को त्यागकर कुमार्ग में
और जो प्रकाश को पाकर भी गिर पड़े तो जानो
नेत्र अभी अन्धे हैं। उसी प्रकार ज्ञान को प्राप्त क
विकर्म करे तो समझना चाहिये कि इसके बुद्धि
नेत्र अभी अन्धे हैं। यदि ज्ञान पाकर विषयों

हुआ है वह अभी बन्ध ज्ञानी है। जैसे कोई मनुष्य हाथ में चिराग लेकर कूप में गिरे उसी प्रकार ज्ञान को पाकर संसार रूपी कूप में गिरे हुये हैं। इससे उनकी गति महा नीच है अज्ञान के आधीन होकर अपनी बुद्धि को नष्ट कर रहे हैं। अपने वैराग्य को कलङ्कित कर रहे हैं और दूसरे ज्ञानियों की हंसी करा रहे हैं। इससे यह बंध ज्ञानी महा मूर्ख हैं। इनका सङ्ग भूल कर भी नहीं करना चाहिये। अतः जिज्ञासुओं को चाहिये कि आप सर्वकर्मों से रहित होकर निर्विकार और पवित्र रीति से अपनी जीवन यात्रा तथा आयु को साधन करते हुये गुज़ारें। यह न समझना चाहिये कि हम को अपने स्वरुप का बोध हो गया-विधि निषेध से रहित हैं। पाप पुण्य हम को नहीं लगता। विकर्म करें तो क्या हानि? देखो जब जीव यथार्थ ज्ञान के द्वारा अपने स्वरुप को अक्रिय अकाम तथा सर्व कल्पनाओं से रहित निश्चय करता है तब उसकी सम्पूर्ण अभिलाषा निवृत्त हो जाती है। केवल नित्य तृप्त और शान्त रहने लगता है। यदि बोध के पश्चात् इच्छायें उत्पन्न हों तो उनके पूर्ण करने के लिये शक्ति को भी प्रवृत्त किया जाय। किन्तु ज्ञान का यह फल देखा गया है कि जब हृदय में प्रवेश करता

है तब सम्पूर्ण कामनाओं को दग्ध करके जीव
कृत्य कर देता है। जब तक इच्छाओं का सद्
तब तक बोध का होना सर्वथा असम्भव है।
विवेकी को प्राकृतिक पदार्थों के संग्रह करने
किसी प्रकार का प्रयत्न करना शेष नहीं रहता
ब्रह्म को जानकर यदि विकर्म करता रहा अर्थात्
क्रोध आदि में फंसा रहा तो फिर बताओ कि
निषेध की आज्ञा को उल्लंघन करने वाले नीच
में और तत्त्व ज्ञानियों में क्या भेद रहा ? क्यों कि
प्राणी भी प्रत्येक वस्तु को खा पी लिया कर
साधन काल में अर्थात् ज्ञानी बनने के पूर्व काम
आदि केवल मन के दोष थे। अब सब जगत्
और संसार की हंसाई का कारण बन गये। (बस
को धार कर बोधवान् को शूकर एवं कूकर के
नहीं बनना चाहिये कि वह चाहे जो खा पी लि
प्रत्युत देवताओं के समान सब लोगों का पूज्य
वेदान्त में यह बात नहीं है कि संसार मेरा
और मैं स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार में प्रवृत्त रह कर
और गुलछर्रे उड़ाऊं और जब किसी बात
अथवा किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े तो उसे

के द्वारा निवारण करके और फिर अपनी उसी पुरानी चाल अथवा स्वभाव को न छोड़े। वेदान्त कामनाओं का शत्रु है। इच्छा एवं चाह का तो बिस्तरा बोरिया लपेटकर रख दिया जाता है। यदि मनुष्य के मनोनाश तथा वासनाक्षय के द्वारा काम तथा क्रोध आदि अच्छे प्रकार से निवृत्त होगये तो मनुष्य ऐसे सुख का अनुभव करता है जो सदैव रहने वाला एवं अविनाशी हो। किंवा ऐसी स्वतन्त्र वर्तमान जीवन यात्रा का आस्वादन करता है जिसको वाणी कथन करने में असमर्थ है। अतः विचार शील को धर्म मार्ग नहीं त्यागना चाहिये। यदि मनुष्य गृह में या वन में बैठा हुआ मन से विषयों का ध्यान करता रहेगा तो फल यह होगा कि उसका इस सोचने से विषयों के साथ सम्बन्ध उत्पन्न हो जायगा। वह सम्बन्ध बढ़ कर इस कामना का रूप धारण कर लेगा कि विषय मुझे मिल जायें। परन्तु कामना का पूरा होना सर्वथा असम्भव है। अतः फिर क्रोध रूप अग्नि प्रज्वलित हो जायगी और पुनः क्रोध से मोह रूपी राजा प्रकट होंगे और मोह से इसको गुरु का दिया हुआ महा मंत्र विस्मरण हो जायगा। तथा शास्त्रों में पढ़े हुये अक्षरों की स्मृति जाती रहेगी अर्थात् बुद्धि में शक्ति

हीनता आ जायगी एवं बुद्धि मारी जायगी एवं म
को जब बुद्धि नहीं रही तो मनुष्य मनुष्य दर्जे से
कर पशु बन जायगा अंतिम फल यह होगा
वह मनुष्य दूसरे के आधीन होकर पराधीन हो जा
इसलिये पराधीन जीवित रहना ही पशु जीवन है
जिज्ञासु को चाहिये कि मन के सम्पूर्ण विकारों
दूर करने के लिये वह एकान्त में बैठा करे-और
इस जगत का अधिष्ठान् है तथा जो पारमार्थिक
सत्ता है और जिसको सच्चिदानन्द भी कहा जाता
अहंकार से लेकर देह पर्यंत जो संघात् है उस सभी
अधिष्ठान् तथा सभी का साक्षी होने के कारण जो
सभी से पृथक् है किंवा सभी का अन्तर है जो आ
रूप से कथन किया है उस अपने प्रत्यक् आत्मा
ध्यान किया करे। जब अभ्यासी ध्यान के द्वारा अ
मनोराज्यों को रोक कर मन को अपने वश में कर ले
है अर्थात् मन निर्विषय हो जाता है किंवा मन विष
खाली रहने लगता है उस समय इस जिज्ञासु को (
ब्रह्मास्मि) अयमात्मा ब्रह्म के लक्ष्य अर्थ प्रत्यक्ष
होते हैं क्योंकि परिच्छिन्नता एवं देह अभिमान के नि
होने से अनेकता का भ्रम जाता रहता है तत्पश

ऐसी शांति मिलती है अथवा उस दशा में एक ऐसा आनन्द आता है जिसका संसार में कोई उदाहरण नहीं मिलता तथापि इतना कहना अवश्य होता है कि जो वैभव अथवा महिमा ईश्वर की बुद्धि द्वारा जानता था वह अब अपने स्वरुप में देखता है इसी कारण से इस अवस्था को अभय पद बोलते हैं किंवा पूर्ण दृष्टि कहते हैं अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें हम न हों।

प्रश्न ४९—आत्मवेत्ता की दृष्टि में निन्दक तथा भक्त का भेद है वा नहीं और निन्दा से उनके ज्ञान की हानि होती है वा नहीं और वह कुछ कामना रखते हैं वा नहीं ?

उत्तर—बोधवान् की दृष्टि सदा पवित्र और निर्विकार रहती है अर्थात् राग द्वेष से रहित निर्लेप रहती है उसकी दृष्टि में न कोई निन्दक है और न कोई भक्त—वह सब का आत्मा है और सब उसकी आत्मा हैं। जब द्वैत उसकी दृष्टि में नहीं तो अवगुण क्या और क्षमा क्या ? इन विकारों से शुद्ध निर्मल चित्त होकर वह अपनी गम्भीरता में स्थित है जैसे वायु के वेग के द्वारा पर्वत टस से मस नहीं होता उसी प्रकार दुनियावी मनुष्यों के शब्दों के उच्चारण से बोधवान् चोभवान् नहीं

होता। वह सदा अपने आप में मस्त रहता है
अज्ञानी पुरुषों की निन्दा से तो उसकी वृत्ति और
होती है और वैराग्य की अधिक वृद्धि होती है,
पुरुषों से मिलने मिलाने का चिंतन नहीं करते और
से न उनके ज्ञान की हानि होती है क्योंकि निन्दा स्तु
देह अभिमानी पुरुषों को हानि लाभ होता है। जो
प्रकार की वासना से रहित आप्त काम हैं उनको
स्तुति विक्षेप नहीं पहुंचा सकती। देखो सत्पुरु
के भूखे होते हैं माल टाल के अभिलाषी नहीं
यदि कोई सज्जन पुरुष प्रसन्नता पूर्वक कुछ अर्पण
हैं तो अपनी आवश्यकता के अनुसार ग्रहण कर
अन्यथा इच्छा से रहित कामना शून्य, नित्य तृ
सदा सन्तुष्ट रहते हैं क्योंकि इस संसार में धन
निमित्त किसी को कहना अथवा प्रार्थना करना
किसी दूसरे साधन के द्वारा धन को हरण करना
न्याय के विरुद्ध है। यह सम्बन्ध अतिशय करके
रूप तथा क्लेश रूप और चित्त की चंचलता तथा
को बढ़ाने वाला है। ऐसा सम्बन्ध तत्ववेत्ता को
के भी साथ रखना उचित नहीं क्योंकि तत्ववेत्ता
पुरुष आप्त काम और ...

माया के पदार्थ के साथ चित्त को नहीं बांधते। असङ्ग निर्विकार और शुद्ध रहते हैं। क्रोध तथा लोभ आदि तीनों एषणाओं की वासना के क्लेशों को नहीं सहन कर सकते। यह तो सब प्रकार सुखी और आनन्द रूप रहते हैं।

प्रश्न ५०—साधु का संग कहां प्राप्त होता है और किस पुरुष को पूर्ण साधु समझना चाहिये और साधु संग से क्या लाभ है क्या सब प्रकार के साधुओं से ज्ञान प्राप्त होता है अथवा किसी विशेष साधु की संगत से?

उत्तर—इस संसार में सत्संग मिलना अत्यन्त कठिन है प्रथम तो सब स्थलों में पूर्ण ज्ञानी नहीं होते भेद वादी और संशयात्मक साधु बहुत होते हैं उनका संग करना अच्छा नहीं क्योंकि उनके संग से संशय की प्राप्ति और भेद की दृढ़ता अधिक करके होती है इससे सब प्रकार के साधुओं का संग करना योग्य नहीं केवल यथार्थ-दर्शी यथार्थ वक्ता और यथार्थ ज्ञाता साधु का ही संग करना चाहिये। संसार में वेषधारी साम्प्रदायक साधु बहुत हैं जिनकी कुछ संख्या नहीं यथार्थ साधु तो यथार्थ कहीं कहीं मिलते हैं अज्ञानी मनुष्य (संसारी)

सम्प्रदाई वेषधारी को ही साधु समझते हैं तथा वेषका
को ही सन्त महात्मा निश्चय कर लेते हैं यथार्थ लाभ
की पहिचान किसी बुद्धिमान जिज्ञासु तथा सत्करने
को ही होती है अन्यथा सर्व संसारी मनुष्य
पाखण्डी भेदवादी कर्मकांडी इन सब वेषधारियों
साधु मानकर सेवा करके अपने को बन्धन का हेतु
रहे हैं अर्थात् यथार्थ जिज्ञासा पूरी नहीं होती। जिस
उचित है कि विचार करके साधुओं की संगत करें
वेषधारी साधु की संगत में पड़कर संशयात्मक
संसार रूपी वन में भटकता फिरता है। सन्त
कुछ कमी तो है नहीं जिसके वचन करके यह
असत्य और कल्पित प्रतीत होने लगे और धन,
प्रताप, यश, स्त्री, पुत्र आदि की प्रीति चित्त से
हो जाय, विषय विष के समान प्रतीत हों तथा
विपर्य भ्रम तीनों का अभाव हो जावे. जाति आश्रम
राज्य आदि का अभिमान तथा सुन्दरता विद्या
समस्त प्रकार का अभिमान हृदय से सदैव के
निवृत होकर चित्त को कोमल बना देवें और अपने
स्वरूप का ज्ञान भी बुद्धि में प्रकाश तथा जीते जी
विकारों संकल्पों तथा क्लेशों से रहित होकर जीवन

का आनन्द प्रदान करा देवें ऐसे महात्माओं का संग ही लाभदायक है इससे इतर दूसरे संग संसार में बन्धन करने हारे हैं। जो सन्त आप ही रुपये पैसे खाने, पीने, मकान, दुकान, चेला चेली के ही झगड़े में लगे रहते हैं वह भला दूसरे अज्ञानी मनुष्यों को संसार बन्धन से किस प्रकार छुड़ा सकते हैं? संसार की रचना विचित्र है जिस पदार्थ को देखो अनन्त दिखाई देता है साधु त्यागी पंडित ज्ञानी उपासक कर्मकांडी इस संसार में अधिक हैं परन्तु उत्तम कोई २ होते हैं और शेष साधारण हैं। साधारण से साधारण ही लाभ होता है तथा उत्तम से उत्तम लाभ होता है यदि किसी भाग्यशाली मनुष्य को उत्तम सन्त मिल जाय तो दूसरी तरफ अपनी दृष्टि को न जाने दे और उनसे अपनी शंकायें निवृत्त करे तथा उनके वचनों को सुनकर नीच स्वभाव त्याग कर जावे वर्ण समाज सम्प्रदाय पंथ वेष मिथ्या जान पड़ें आदि अन्त मध्य से रहित अद्वैत वस्तु ही सब जगह दृष्टि आने लगे शान्ति, समता, मुदिता, मैत्री, ही चित्त को भावे तथा सम्पूर्ण संसार सच्चिदानन्द दृष्टि आवे और भेद भावना का नाश होकर सर्वत्र आत्म दर्शन होवे ऐसा पूर्ण पुरुष सद्गुरु महात्मा दर्शन के योग्य ...

विक सन्त है।

प्रश्न ५१—बोधवान् किस दृष्टि को धा...
आत्मा में सन्तुष्ट रहते हैं?

उत्तर—सर्व उपाधि एवं सब कल्पना
रहित एक वस्तु अपने आप में स्थित है इन्द्रिय तथा
करण के सम्बन्ध से जो विचित्र रचना प्रतीत है
वह सब सत् वस्तु का विलास है अर्थात् अनन्त
आत्मा की महिमा किंवा उसका स्वरुप ही है
अद्वैत् और अच्युत् स्वरुप में उपदेश तथा उपदे...
की कल्पना भ्रान्ति करके सिद्ध है और वह
अधिष्ठान् से इतर सिद्ध नहीं होती किन्तु अधि...
इस प्रकार होकर प्रतीत होता है या यों कहो
सब उसकी चमचमाहट है इससे समस्त नाम
प्रपंच अधिष्ठान् स्वरूप है मानों वस्तु ही सर्व
रुप होकर पूज्य तथा पूजक भाव से रहित आप
विराजमान् होकर स्थिति है और पूज्य तथा
भाव भी होकर अपने विलास में मग्न है अतः
वस्तु तुम्हारा तथा हमारा आत्मा है इससे त...
केवल वस्तु रुप हैं वस्तु शब्द से वस्तु विशेष न
समझना किन्तु निर्विशेष सत्ता जिसमें शब्द तथा

नाम नहीं केवल अनुभव मात्र है सो वस्तु है और वही वास्तव स्वरूप है ऐसे स्वरूप में मग्न होकर बोधवान् एवं विज्ञानी उस अवस्था का अनुभव करता रहता है जो मन वाणी से परे हैं ऐसी अवस्था का निरन्तर अनुभव करके परं आनन्दित होता है शरीर और जगत को नाम मात्र जानकर उस वस्तु का ही दर्शन करता है जिसमें दृष्टि दर्शन तथा दृश्य नहीं घटते। जीव और ईश्वर की कल्पना से रहित केवल बोध मात्र जो सब का अपना आप है अथवा आत्मा अनात्मा का भेद त्याग कर सहजावस्था में सन्तुष्ट रहते हैं। समाधि तथा उत्थान का भेद जिनकी दृष्टि में किंचित् मात्र भी नहीं रहता ऐसी निरालम्ब और निर्विघ्न अवस्था का धारकर स्व-स्वरुप में मग्न रहते हैं जिसमें अहं ब्रह्मादिक शब्द भी विक्षेप प्रतीत होते हैं उसकी सर्व इन्द्रिय अपने सत्ता सामान्य भाव में विचरती हैं और अन्तःकरण सोम-जल की तरह अपनी साधारण चेष्टा का करता हुआ शान्त स्वरूप रहता है तथा प्राण धीरे २ अपनी चेष्टा को सिद्ध करके शरीर का निर्वाह करते हैं और जिह्वा इन्द्रिय रूखा खाकर सन्तुष्ट रहती है और सबका मालिक पेट राजा तो थोड़ा भी खाकर सन्तुष्ट रहता है दिन

रात्रि का जाना तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे
समान बीत रहा हो--ऐसी गम्भीर दशा को
विचरता है। शुद्ध ज्ञानघन रुप ही उसका शेष
बोधवान् उस पर विराजमान है ज्ञान तथा
रहित होकर केवल कैवल्य भाव से अपना
स्वयं आप करता है। सम्पूर्ण लौकिक शब्दों
से पृथक् कर शान्त आत्मा रहता है निन्दा तथा
के ऊपर ध्यान नहीं देता-राग द्वेष, मान, अपमान
ईर्षा, वर, शाप, बड़ाई, छोटाई का भाव उनके
फुरता ही नहीं मानों इन सब का सद्भाव उसके
में से इस प्रकार निकल गया हो जिस प्रकार
क्रियाओं के करने से भूत भाग जाता है बस
अन्तःकरण निर्वाण स्वरुप पर आनन्दित रहता
किसी से अपनी प्रतिष्ठा नहीं चाहता है ऐसी
तथा पूर्ण अवस्था वाला न किसी को वर देता
शाप वरन् सोम जल के समान देह संयोग
व्यतीत करके अवाच्यपद को प्राप्त होकर नित्य
मौनता को धारण करके अपनी मस्ती में स्वयं
रहता है।

प्रश्न ५२—ब्रह्म ज्ञानी को विधि निषे

अभाव है तब लोकाचार, शास्त्राचार तथा देह सम्बन्धी सांसारिक कार्यों के करने से क्या हानि ?

उत्तर—यथार्थ पूर्ण ज्ञानी को लोक वासना नहीं होती और जिसको कोई वासना है वह बोधवान् नहीं जो मनुष्य लोक सन्तोष के निमित्त आचरण करता है अर्थात् आप अच्छे हैं आपके यहां सब कुशल हैं खेती बाड़ी में पैदावार तो अच्छी है इस लोकाचार को त्याग कर अपने श्रम को निवृत्त करे। और मैंने शास्त्र पढ़े हैं मेरे को विस्मरण न हो जायें तथा विद्वानों की सभा में मेरा अपमान न हो ऐसा विचार कर जो निरन्तर शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने का आचरण करता है। वैराग्यवान् को इस श्रम से भी निवृत्त होना चाहिये और शारीरिक कार्य करने में निरन्तर व्यस्त रहता है अर्थात् शरीर को तैलादि करके शुद्ध न करूंगा तो कुरूप हो जायगा और यदि चन्दनादि से लेपन न किया जायगा तो शरीर में दुर्गन्धी आने लगेगी तथा स्निग्ध पदार्थों का सेवन न करूंगा तो मेरा शरीर दुर्बल हो जायगा और यदि व्यायाम न किया जायगा तो शरीर की त्वचा ढीली हो जायगी अथवा सूख जायगी तथा रोग के भय से औषधियों का निरन्तर सेवन करते रहना तथा एक महीने में

कई बार छौर (हजामत) कराना इत्यादि विचारों द्वारा निरन्तर शरीर शोधन में लगे हुए शास्त्राभ्यास करते रहना ऐसे वाचक ज्ञानी को यथार्थ बोध नहीं होता। क्योंकि यह तीनों प्रकार की वासना अनात्मक दृष्टि को लेकर ही हो सकती हैं।

जब तक अनात्मक दृष्टि है तब तक अद्वैत के यथार्थ ज्ञान की आशा करना व्यर्थ है क्योंकि के अभाव में केवल मोक्ष की इच्छा होना मगरमच्छ पकड़े हुए के समान है अर्थात् दुखदाई है। वासना के रहते हुए जो अपने को बोधवान मानता है वह दशा है जैसे कोई क्षुधार्थी मनुष्य मनोरथ के भोजन से तृप्ति मान बैठे उसी प्रकार उसका मनोरथ मात्र ही है अर्थात् वासनाओं से युक्त प्राणी मोक्ष नहीं मिल सकती। विचार दृष्टि से देखें आत्मा नित्य प्राप्त रूप है और संसार नित्य निवृत्त है परन्तु अज्ञान करके आत्मा अप्राप्त की नाईं जगत् प्रवृत्त रूप प्रतीत हो रहा है यह अज्ञान ज्ञान बिना दूसरे और किसी उपाय से निवृत्त नहीं होता जिज्ञासु को उचित है कि बोध के पश्चात् भी का त्याग न करे क्योंकि शरीर में जो अन्तःकरण

है उसकी अवस्था सदा एकसी नहीं रहती वरन् विलक्षण भाव को प्राप्त होती रहती है जब तक विचार का निरन्तर दृढ़ अभ्यास नहीं होता तब तक अन्तःकरण स्वस्थ और सामान्य होकर स्थित नहीं रहता इसी से जीवन मुक्ति के अभिलाषी जिज्ञासु को बोध के प्राप्त हुए पश्चात् भी मनोनाश तथा वासना क्षय का उपाय करते रहना चाहिये।

प्रश्न ५२—जीव तथा ब्रह्म एक है यह वेदान्त का सिद्धान्त समझ में नहीं आता क्योंकि जीव अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति वाला सुख तथा दुख से युक्त रहता है और ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सुख दुख से सर्वथा मुक्त है।

उत्तर---बुद्धि की आंख से देखो यदि खराब हो तो सत् गुरु के समीप जाकर और उनकी सेवा करके बुद्धि को शुद्ध करके देखो ब्रह्म सर्वज्ञ भी है अल्पज्ञ भी है। जो सर्वज्ञ होता है वह अल्पज्ञ भी अवश्य होता है। यदि यह कहो कि एक ही मनुष्य विद्वान् तथा मूर्ख कैसे हो सकता है क्योंकि परस्पर विरोध है इसका उत्तर यह है कि जैसे विद्वान तथा मूर्ख का परस्पर विरोध है ऐसे सर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ का परस्पर विरोध नहीं केवल अधिकता तथा न्यूनता मात्र का ही भेद है। जो मनुष्य सौ

तक की गिनती जानता है वहे अल्प संख्या
गिन्ती भी अवश्य जानता है अब विचार करो
सर्वज्ञ अर्थात् सब का जानने वाला हो और अल्प
न जाने तो उसकी सर्वज्ञता ही क्या रही इसलिये
सर्वज्ञ है वह अल्पज्ञ भी है जो सर्वशक्तिमान है वह
शक्तिमान भी है इस युक्ति से ही समझलो ।

हम पूछते हैं कि स्वप्न सृष्टि की उत्पत्ति
तथा प्रलय किस से सिद्ध होती है क्या वहां आप
सिवाय कोई दूसरा है वास्तव में आप यहां से (जा
कुछ सामान ले जाते हो । हमने माना कि स्वप्न
पूर्व दृष्टि और सुने हुये संस्कारों से ही प्रतीत होती
और मिथ्या है फिर भी उस मिथ्या की उत्पत्ति
प्रलय आप में ही होती है । क्या उस नाट्य शाला
भूम में तुम्हारे सिवा कोई दूसरा है यदि कहो कि
ही हूं जब तुम ही हुये तो उस मिथ्या जगत् की उ
आदि तुमसे ही हुई तो तुम उस सृष्टि के ईश्वर हुये ।
वहां तुम्हारे सिवा दूसरा नहीं और यह भी मानना
कि वहां जो कुछ भी प्रतीत होता है अर्थात् जगत्
ईश्वर सूर्य चन्द्र एवं जड़ चैतन्य यह जो कुछ
संसार है तुम में ही प्रतीत होता है मिथ्या हुआ न ।

न हुआ दीखता है जैसे रस्सी में सर्प, सीपी में चांदी। और यों भी कहा जा सकता है कि स्वप्न की सृष्टि ईश्वर भी तुम ही हुये और अल्पज्ञ जीव भी तुम ही तथा पर्वत समुद्र आदि भी तुम हुये अर्थात् उस सृष्टि ईश्वर तुम ही निकले यथार्थ में इतने पर भी वहां जीव के वेष में (अल्पज्ञ वेष में साढ़े तीन हाथ भूमि के केदार अस्थि मांस मलमूत्र झोपड़े के अभिमानी मिथ्या प में) तुम से कोई पूछे कि आप कौन हैं क्या आप ईश्वर हैं ? तो इसके उत्तर में तुम अपने को अल्पज्ञ जीव ही कहोगे और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ईश्वर उस स्वप्नसृष्टि की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय के स्थान अर्थात् अधिष्ठान होते हुये भी यही कहोगे कि हम ईश्वर कैसे हो सकते हैं ?

अब बताओ जो सर्वज्ञ होता है वही अल्पज्ञ हुआ । और तुमने जो कहा कि वेदान्त का सिद्धान्त हमारी समझ में नहीं आता इसका उत्तर यह है कि बिना गुरु भक्ति तथा बिना वेदान्त शास्त्रों के पढ़े बुद्धि में कैसे आ सकता है अर्थात् नहीं आ सकता क्योंकि सांसारिक बुद्धि से परे की बात है । यह विषय तो बड़े २ विद्वानों की भी समझ में नहीं आता । जो मनुष्य विवेक वैराग्य आदि

साधनोंसे सम्पन्न हैं और जिनको किसीभी लौकिक पा
वस्तुओं में राग नहीं तथा जो सर्व प्रकार की
से मुक्त हैं तथा मोह ममता से ऊपर उठ गये हैं
के समझने का अधिकार उन्हीं को है प्रत्येक म
विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं जैसे स्वप्न
तुमही ईश्वर तथा तुमही जीव, सर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ नि
प्रकार यहां जाग्रत अवस्था में जाग्रत सृष्टि जानों। जा
स्वप्न में जब तक भेद सिद्ध न हो तब तक तुमको
पड़ेगा कि ईश्वर जगत् और जीव आप ही हो
यों कहो कि आप में ईश्वर जगत् और जीव का
आभास रज्जु सर्पवत् होता है। कारण जब आप
अवस्था में आते हैं तब उनमें से कोई नहीं रहता
स्वप्न सृष्टि के ईश्वर जीव तथा जगत सब ही
जाते हो। जैसे मदारी तमाशा करता हुआ बड़े
निगल जाता है और वह गोले पुनः मुख से नि
है उसी प्रकार तुम पुनः ईश्वर, जीव सृष्टि
उत्पन्न कर लेते हो और कहने लगते हो कि अ
सर्वज्ञ ईश्वर किस प्रकार हो सकता है ?

वास्तव में तुम ईश्वर भी नहीं और जीव
जगत् भी नहीं क्योंकि तुमने तीनों का आदि

खा है तुम तो इन सब के साक्षी अचल, अखण्ड, एक
स, कूटस्थ, परब्रह्म हो यदि कोई मनुष्य चटनी को
ाकर कहने लगे कि मिर्च तो खट्टी होती है उसी प्रकार
न, बुद्धि, शरीर के साथ तुम अपने को दुखी समझते
ा अर्थात् अल्पज्ञ जीव। खटाई से मिर्च को पृथक
रके फिर खाकर देखो मिर्च में खटास का लेश मात्र
ी नहीं है तुम मन, बुद्धि तथा शरीर से किंचित अलग
ाकर अपने को अनुभव करो अथवा मेरे कहने से
कान्त दशा का अर्थात् सुषुप्ति अवस्था का स्मरण करो
स अवस्था में आपको क्या कुछ दुःख था वहां तो
ानन्द ही आनन्द था तुम अपने को अन्तःकरण आदि
े मिलकर तुच्छ क्यों देखते हो क्यों धोके देई में संसार
ी हंसी दिल्लगी का विषय बन रहे हो देखो जब तुम्हारे
ारीर का आविर्भाव हुआ था तब तुम नाम से रहित
े किन्तु अब तुम्हारे सोते हुए भी कोई तुम्हारा नाम
ेकर पुकारे तो तुम उस नाम के द्वारा तुरन्त ही चौंक
उठते हो। लो प्रत्यक्ष देखलो असत् नाम भी तुम्हारे
लिये सत् हो रहा है उसी प्रकार वर्ण, आश्रम आदि भी
ो माया करके कल्पित हैं उनका तुमको सत्यपन का
भास होता है।

यदि तुम विवेक वैराग्य द्वारा गुरु तथा शा
युक्तियों से हिम्मत बांधकर बिना साक्षात् का
अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, वेद के इन महा
को अपने हृदय में धारण करोगे तो अभ्यास
कुछ कालान्तर में अवश्य जीवोऽहं अर्थात् देहादि
किंवा अहंत्वं आदि की मलीन वासना सर्वथा नि
जायगी क्या वेद के वचन ऊपर २ से सुनने को
हैं ? गीता के यह वचन "न जायते म्रियते" पाठ
भी यदि तुम अपने को जन्म मरण वाला मानो तो
गीता पढ़ने का क्या फल हुआ ? भगवान्
वाक्य में विश्वास क्यों नहीं करते ? नाम,
आश्रम, पिता, पुत्र इत्यादि का मिथ्या विश्व
करते हो जैसे यह मिथ्या लेसंस तुमने पक्का क
है वैसे सच्ची बात भगवान् कृष्ण की बताई
नहीं पक्की करते ? अनुभव से भी देख लो तुम
आपको जन्म मरण वाला मानते हो क्या तुमने
जन्म तथा मरण देखा है ? यदि नहीं देखा
विषय में तुमको निश्चय विश्वास कर लेना
नहीं है।

स्वप्न में भी तुम अपना जन्म मानते थे अ

स्वप्न का जन्म किस माता के पेट से हुआ था ? क्या तुमने नहीं सुना कि स्वप्न में पूर्व की स्मृति और अनुभव था अर्थात् सब कुछ मन रच लेता है अतः सब मन का खेल है तो फिर अपने को अल्पज्ञ दुखी जीव क्यों मानते हो ? अब बुड्ढा हुआ, अब मरूंगा, मैं दुखी हूं, ऐसा व्यर्थ निष्प्रयोजन प्रलाप क्यों करते हो। विचारवानों के मध्य में चिन्ता विलाप करना बड़ी मूर्खता है किंवा अज्ञानता है। जैसे दर्पण में दर्पण के विकार से अवास्तविक तथा विचित्र आकृतियां देखी जाती हैं उसी प्रकार तुम अपने मलीन अन्तःकरण आदि में अपने आपको तुच्छ देखने लगे हो। यदि तुम सत् गुरु के मुख से महावाक्य को सुनकर विचार करोगे तत्पश्चात् अपने प्रत्यक् आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करोगे तो मरने आदि का जो भ्रम है वह सब जाता रहेगा इसी प्रकार अपने को मान और किसी की मत सुनो। देहादि अनात्म तथा नश्वर वस्तुओं का अभिमान करना यही अन्तःकरण की अशुद्धि है। देखो अपना जो ज्ञानस्वरुप आत्मा है वह ज्ञान निर्विकार एवं निरवयव नित्य मुक्त है ऐसा जानना यही अन्तःकरण की शुद्धि है।

अपने वास्तविक स्वरूप को जानता हुआ भी प्रमादी

मत बन ! आज तक तुझको अपने से पृथक कहीं भी
दिखाई नहीं दिया फिर क्यों व्यर्थ कल्पना
तथा एक ही अन्तःकरण को अपना क्यों मान बैठा
सब तेरे ही अन्तःकरण हैं क्यों धोखा खा रहा है।
जो वस्तु दृष्टि आती हैं उनको किंचित् विचार
से देख सब तेरी ही मूर्ति है। तू चौखटे को
अर्थात् ताने बाने का कपड़ा नाम रूप वाला
उसकी तरफ मत देख उसके अन्दर देख
चौखटे में तेरा ही फोटो है अर्थात् तेरा ही
है अपने को एक ही शरीर में कैद करके मत
किंवा अपने को शरीर मत समझ वह मसल मत
गुड़ खाना और गुलगुलों से परहेज। हड्डी चमड़े
से इतनी घृणा कि उनको छूना तक भी नहीं
फिर इतना ढीट बन जाता है कि हाड, चाम,
आदिक स्वयं बनने में बुराई नहीं जानता। कहता
मानता है कि मैं शरीर हूं अमुक का पुत्र हूं काला
गोरा हूं। जब तक शरीर में अहं मम् का भाव रहे
तक सुख कदापि नहीं मिलेगा अर्थात् जन्म मरण
फांसी से कदापि नहीं छूटेगा और राग द्वेष रूपी
से तप्त ही रहेगा नीचे लिखे पर दृष्टि डाल—

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावद शुचिः।
परेभ्यः स्यात क्लेशो जनन मरण व्याधि निलयः॥
यदात्मानं शुद्धङ्कलयति शिवाकारमचलम्।
सदा तेभ्यो मुक्तो भवतिहि तदाह श्रुतिरपि॥

प्रश्न ५४—इस संसार को स्वप्न वत् कैसे माने स्वप्न संसार तो किंचित काल रहता है तथा दृष्टि और सुने हुए संस्कारों का रचा हुआ है और स्वप्न के पदार्थ भी क्षणभंगुर हैं तथा जाग्रत जगत् ज्यों का त्यों दीखता है और दीर्घ काल तक रहता है इसलिये जाग्रत तथा स्वप्न जगत् में बहुत भेद है।

उत्तर—-तुम स्वप्न जगत् तथा जाग्रत जगत् में यही भेद बताते हो न, कि जाग्रत जगत् सत्य है और स्वप्न मिथ्या है ? हां महाराज। अच्छा यह बताओ कि आपका अगला जन्म होगा वा नहीं यदि कहो होगा तो तुम्हारे शरीर की उत्पत्ति में कारण क्या होगा ? यदि कहो कि यहां के कर्म, तो हम पूछते हैं कि कर्म तो अनुष्ठान काल में अव्यवहित होकर उत्तर काल में वह कर्म नष्ट हो जाते हैं यदि तुम कहो कि कर्म नष्ट हो जाया करें उनके संस्कार अवश्य मन में रहते हैं। आपके मतानुसार यह सिद्धान्त निकला कि आपके उत्तर

जन्म का कारण आपके मन में रहने वाले संस्कार हुए उसी प्रकार स्वप्न सृष्टि का कारण हेतु भूत सं होते हैं। इससे यह बात निश्चित हुई कि स्वप्न या जाग्रत का शरीर अर्थात् जाग्रत सृष्टि तथा सृष्टि दोनों एक जैसी हैं क्योंकि उपादान कारण सं दोनों का एक है इससे सिद्ध हुआ कि यह प्रत्यक्ष तथा वर्तमान शरीर किसी पूर्व शरीर के मनोगत सं की ही रचना होगी इससे ज्ञात हुआ कि जाग्रत स्वप्न में कोई भेद नहीं स्वप्न में केवल जाग्रत बुद्धि थी स्वप्न अज्ञात था अर्थात् यह नहीं ज्ञात था कि यह है किन्तु जाग्रत होने पर ही उसको स्वप्न जाना। प्रकार सर्व जाग्रत् में जाग्रत बुद्धि ज्ञात और स्वप्न अज्ञात होने से जाग्रत अवस्था सच्ची प्रतीत होती इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ भी जाग्रत है वास्त स्वप्न ही है क्योंकि जाग्रत की केवल एक ही ज्ञात है (सत्य) परन्तु स्वप्न की ज्ञात अज्ञात दो स (स्वप्न में सत्य जाग्रत में असत्य) अतः स्वप्न सत्ता होने से कार्य रूप जगत् कारण रूप स्वप्न मिथ्या है। विचार की दृष्टि से देखा जाय तो जगत् स्वप्न रूप है स्थूल जगत में ही जाग्रत

और वह स्थूल सूक्ष्म का कार्य है इसलिये जाग्रत गत् स्वप्न का कार्य है एवं जाग्रत जगत भ्रम मात्र है। स्तु उसी प्रकार जाग्रत जगत् ज्ञात में उसकी दूसरी वस्था, स्वप्न रूप अज्ञात है।

अतः शास्त्रों से उसकी दोनों अवस्था भ्रम रूप तथा प्न रूप निश्चय होती हैं स्वप्न और स्वप्न से स्वप्ना-र यह भ्रम रूप सर्ग परम्परा अनादि काल से ला आता है। द्रष्टा अर्थात् स्वप्न का देखने वाला प्न काल में उस स्वप्न को जो जाग्रत मानता है उस (अप्रसिद्ध) अध्यास ही कारण है अतः स्वप्न से इतर ाग्रत कहीं नहीं देखी स्वप्न से स्वप्नान्तर में नया ही नया ाग्रत का अध्यास भ्रम से प्रतीत होता है कि पहले भी ाग्रत में यही जाग्रत जगत देखा था अब भी वही जगत है ौर ज्यों का त्यों दिखाई देता है परन्तु ऐसा नहीं है किन्तु सरी ही सजातीय की प्रतीति है जैसे जब २ अन्धकार ारा रज्जु में सर्प का ख्याल (अध्यास) होता है सो हले के सदृश्य ही भान होता हुआ भी नया अध्यास ी है इसी प्रकार जाग्रत की जो वस्तुयें पूर्व रूप करके ात होती हैं अर्थात् पहिली हैं ऐसा भान होती हैं। सो ि स्वप्न से स्वप्नान्तर के सदृश्य नयाही अध्यास है

जिस प्रकार प्रत्यक्ष स्वप्नावस्था में अर्थात् स्वप्न
मनुष्य की जाग्रत बुद्धि होती है उस समय द्रष्टा
स्वप्न का देखने वाला जिस प्रपंच को देखता है
में वह स्वयं प्रपंच का सृष्टा है अर्थात् संसार
वाला है और उसका ज्ञाता भी है यह सब
जन्य है किन्तु अपने आप को सृष्टा नहीं मान
से भिन्न ईश्वर को ही सृष्टा मानता है और
को उस अध्यस्त जाग्रत जगत का अभिमानी
यह अन्यथा ग्रहण ही सर्व जीवों को अनुभव होता
कोई बेसमझ मनुष्य उस स्वप्नावस्था को
जाग्रत मानले। परन्तु जब दूसरी अवस्था बदले
ज्ञात हो जाता है कि वह तो स्वप्न था उसी
संसार रूप जाग्रत अवस्था अज्ञान का कार्य
भी अज्ञान रूपी स्वप्न में सत् जैसा प्रतीत होता
बोध रूपी जाग्रत के हुये स्वप्न ही है अर्थात्
है ऐसा अनुभव में बैठ जाता है बस स्वप्न में
राज पक्का हो जाता है उस समय मनोराज्य
कल्पित स्वप्न सत्य सा दिखाई देने लगता है
जाग्रत अवस्था में भी जिन २ आकृतियों की
जाती है वह आकृतियां अर्थात् जाग्रत जगत

क के अभ्यास के कारण ऐसे प्रत्यक्ष दीखते हैं मानों वास्तव में यह नाम रूपात्मक प्रपंच जगत् सत्य तथा कालान्तर से चले आने वाला है। संकल्प या ख़याल का उठना ही मनोराज्य है और मनोराज्य का दृढ़ता के साथ मजबूत हो जाना ही सच्ची घटनाओं का होना है स्वप्न संसार और जाग्रत जगत् दोनों ही संकल्प मात्र हैं तथापि स्वप्न संसार जाग्रत के पश्चात् संकल्प रूप है और जाग्रत ईश्वर का पहला संकल्प है इस कारण जब मनुष्य स्वप्न जगत् में प्रवेश करता है तो स्वप्न संसार उत्पन्न होता है और जब जाग्रत होता है तो (स्वप्न संसार) नाश होता हुआ सा दिखलाई देता है और जाग्रत का जगत् ज्यों का त्यों दिखाई देता है उसका कारण आदि संकल्प है जो प्रलय काल से पहले नहीं बदल सकता जब वह संकल्प नहीं बदल सकता तो उसका कार्य रूप जाग्रत जगत् भी प्रलय से पहले नहीं बदल सकता। बस अनसमझ मनुष्यों को यह भ्रम (धोका) होता है कि स्वप्न तो थोड़ी देर के लिये होता है अर्थात् अल्प कालीन और बदलने वाला है और जाग्रत जगत दीर्घ कालीन तथा ज्यों का त्यों रहने वाला है। मृत्यु के पश्चात् यही जाग्रत जगत् स्वप्न के समान प्रतीत होता है जिस प्रकार

स्वप्न से निकल कर इस जाग्रत जगत में आजाते
प्रकार मृत्यु में इस जाग्रत जगत् संसार से निकलकर
की यात्रा करते हैं। और वहां के स्वर्ग नर्क सब
को देखते हैं परन्तु वह परलोक रूपी संसार इस
संसार की अपेक्षा अधिक स्थाई रहने वाला है
परलोक सत्य सा प्रतीत होता है और जाग्रत ज
वत् प्रतीत होता है और जब वही प्राणी प
पुनः जाग्रत जगत में लौटता है तो परलोक
को भ्रम मात्र जान कर (हृदय से त्याग
जिस प्रकार स्वप्न में जाने पर इस जा
को सर्वथा भूल जाता है और जागने पर जाग्र
को सत्य तथा स्वप्न को मिथ्या मान लेता
इसी प्रकार जब तुम परलोक की यात्रा करोगे
के जगत को मिथ्या (स्वप्नवत्) और प
संसार को सत्य कहोगे इस प्रकार यह चक्र
करता है अतः जब गुरु और शास्त्र के द्वारा
अभिन्न साक्षी मात्र उत्पत्ति रूप वास्तव जाग्रत
यह सब सत्य तथा मिथ्यापने का विकल्प
जावेगा अर्थात् जगत की ओर से सुषुप्ति होना
से अभिन्न साक्षी में जाग्रत क्योंकि

उसी का नाम है जहां कुछ जाग्रत अनुभव हो वह अनुभव सत्ता सदा जाग्रत रूप है जैसे पदार्थ आगे आते हैं उसी का अनुभव करता है अतः आत्म सत्ता सर्वदा जाग्रत रूप है अथवा यों कहो कि समस्त काल में स्वप्न ही है स्वप्न उसी का नाम है जहां पदार्थ उल्टे ज्ञात हों सो सब पदार्थ विपरीत ही प्रतीत होते हैं आत्मा विपर्यय से रहित है इसलिये आत्मा में जो कुछ प्रतीत होता है सर्वदा स्वप्न मात्र ही है अतः जब इस प्रकार यथार्थ बोध होता है तब जाग्रत जगत कहां और स्वप्न जगत कहां दोनों का अभाव होकर केवल अद्वैत आत्म सत्ता प्रतीत होती है अज्ञानता के कारण बारम्बार चिन्तन करने से जाग्रत जगत सत्य प्रतीत होने लगता है जैसे जल दृढ़ जड़ता से बर्फ रूप हो जाता है उसी प्रकार प्रमाद तथा संकल्प से मिथ्या वस्तु भी सत्य जैसी प्रतीत होने लगती है।

प्रश्न ५५—तत्ववेत्ता जड़ और चैतन्य को कैसे देखता है ?

उत्तर—जड़ और चैतन्यता अल्पज्ञ दृष्टि करके प्रतीत होती है विचार दृष्टि से देखा जाय तो जड़ता तथा चैतन्यता का कोई भेद नहीं है जड़ता को द्रवीभूत

देखकर यह निश्चय होता है कि यह जड़ ...
सघन रूप होकर स्थित है और द्रवता को फली...
कर यह निश्चय होता है कि द्रवता ही जड़ ...
सघन है और द्रवता ही उद्भिज रूप होकर सघन
उद्भिज(पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वृक्षलतादि)
के कारण का विचार किया जाय तो यह
में आता है कि उद्भिज ही अंडज, जरायुज, स्वे...
हो सृष्टि रूप को धारण करके स्थित हैं जिस
बर्फ के पर्वत द्रवीभूत होने से जलरूप हो...
और पुनः जल प्रफुल्लित होकर वनस्पति ...
प्राप्त होता तथा वही वनस्पति जठराग्नि में पाचन...
प्राण रूप हो जाती है और वह प्राण ही सम्पूर्ण
में चैतन्यता का कारण होता है अर्थात् संसा...
कुछ क्रिया होती हुई दृष्टि आती है वह सब प्रा...
ही है इससे यह सिद्ध हुआ कि जड़ तथा चैतन्य
एक ही रूप हैं इस दृष्टि को धारकर तत्वदर्शी
पर्वतों को केवल चिद्रूप निश्चय करते हैं। यद्यपि
ऊंचे और गम्भीर पर्वत चक्षु के विषय प्रतिबिम्ब
हैं परन्तु ज्ञान चक्षु विषय ज्ञान से विना रंचक
सिद्ध नहीं होते ? यहां न बहुत ...

भेद बिना सिद्ध है अर्थात् अन्दर और बाहर के भेद से सर्वथा रहित है इस दृष्टि को धारकर अपनी विभूति का आप दर्शन करते हैं न जड़ को देखते हैं और न चैतन्य का केवल अस्तिमात्र को देखकर अपने आप में मस्त रहते हैं। अतः जड़ और चैतन्य में कोई भेद नहीं एक रूप है। जड़ चैतन्य का भेद, बुद्धि का किया हुआ है, स्थूल दृष्टि वालों को यह भेद प्रतीत होता है वस्तु के विचार करने से संशय की निवृत्ति हो जाती है केवल अक्षरों के पढ़ने से संशय की निवृत्ति नहीं होती तथा शब्दों के भेद में पड़कर संशय रूपी सागर में टकराते रहते हैं शब्द पर ध्यान न देकर अर्थ पर ध्यान देना चाहिये और अर्थ के विषय को अनुभव में लाना तथा अनुभव में लाकर स्थित रहना चाहिये।

प्रश्न ५६—अज्ञान का क्या स्वरूप है और माया का क्या स्वरूप है तथा उसके दूर होने का क्या उपाय है ?

उत्तर—अज्ञान का यही स्वरूप है कि मैं शरीर हूं और यह मेरा नाम है और मैं अमुक का पुत्र हूं यह मेरा धन है यह मेरी स्त्री है यह मुझको करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये यह योग्य है यह अयोग्य

है यह मेरा शत्रु है और यह मेरा मित्र है तथा
मेरी जाति है और यह मेरा आश्रम है और मैं ज
या बुड्ढा हूं इतनी मेरी आयु और मैं मृत्यु को
हूंगा तथा फिर जन्म लूंगा मैं परोपकार करके
हो जाऊंगा इससे आदि लेकर और भी अनेक
के मनोराज्य और संशय अज्ञान नाम से कहलाते
जैसे कि मैं विद्वान् हूं पण्डित हूं त्यागी हूं विरक्त
हूं निर्धन हूं यही अनेक मनोराज अपने प्रत्यक्
का साक्षात्कार नहीं होने देते। शरीर के अभिमान
नाम माया है किंवा शरीर के ही लालन पालन में
रहना ही माया है और आत्मा के बोध से यह माया
की नटनी दूर होजाती है अथवा अपने स्वरूप का अ
ही माया है और इसी से यह माया दुख रूप होरही
यदि प्रत्यक्ष देखना चाहते हो तो माया का रूप
विकल्पात्मक मन ही है। जब तक यह मन उपशम
होता तब तक बड़े नाच नचाता है और ज्ञान करके
माया ब्रह्म रूप तथा आनन्दरूप प्रतीत होती है
अपने स्वरूप को जानने से यह माया मित्ररूप होकर
देती है और स्वरूप के बोध से देहाभिमान गलित हो
है। संसार की ओर से विस्मृति सी हो जाती है (कि

की तरफ़ से। किंवा जैसे २ यह मुमुक्षु अपने को शरीर से भिन्न जानता जाता है उसी २ प्रकार हृदय से नाम, वर्ण आश्रम, मान, पूजा आदि की भावना निवृति होती जाती है। माया का रूप यह भी है कि सत् स्वरूप परमात्मा को नहीं के बराबर जानना और असत् रूप धनादि को है के बराबर जानना किंवा सत् चित् आनन्द रूप आत्मा को अपने से भिन्न जानना और असत् जड़ दुख रूप शरीर को अपना आपा समझना किंवा सत् गुरु की सङ्गत को अशुद्ध जानना और स्त्री पुत्र वा संसारी मनुष्यों की सङ्गत को शुद्ध जानना वा सुख रूप त्याग और उपरामता को दुख रूप जानना (सर्व आरम्भ के त्याग को) और दुख रूप कृषि, व्यापार, नौकरी लेनदेन आदि को सुख रूप समझना अर्थात् लौकिक तथा वैदिक कार्य के आरंभ करने में सुख की प्रतीत करना यह सब अविद्या है। जब तक इस प्रकार की अविद्या का नाश न हो तबतक अंतःकरण पवित्र नहीं होता क्योंकि ज्ञान की स्थिति अन्तःकरण की शुद्धि के बिना नहीं होती।

प्रश्न ५७—मैं कौन हूं और क्या कर रहा हूं, और मुझको क्या करना है और भूला कौन है तथा समझाने वाला कौन है ?

उत्तर–कौन का अक्षर हृदय से निकाल फिर जो शेष रहे सो तुम हो क्या का अक्षर विस्म करके जो कर रहे हो कोई कर रहे हो क्या का विस्मरण करो शेष जो करना है वही करना है भूले आप हो और समझाने वाले भी आप हो जैसे सोता भी आप है और जागता भी आप है और चलता भी आप है बैठता भी आप है वास्तव में कोई भूला है और न कोई समझाने वाला है शरीर की उपाधि करके यह दो भेद प्रतीत होते हैं जितने भी शरीर हैं सब ही पंचभौतिक हैं और शरीरों में दश इन्द्रियां और चार अन्तःकरण हैं बुद्धि चित्त अहंकार) अन्तःकरण का धर्म ज्ञान अज्ञान है मानों अन्तःकरण ही अन्तकरण को समझाता और अन्तःकरण ही अन्तःकरण को भूल में डालता है चाहे यों कहो गुण गुणों में वर्त रहे हैं चैतन्य सत्ता सदा रस अपने आप में स्थित है न भूलता है और न को समझाता है अन्तःकरण ही स्वयं भूलता है स्वयं ही समझता है इससे कहा गया है कि भूला आप है और समझाने वाला भी आप ही है।

प्रश्न ५८—जब मैं आत्मा हूं मुझको अपने स्वरूप का बोध है तो सोने की दशा में अथवा मूर्छा में अपने को भूल जाता हूं कि मैं ब्रह्म आत्मा हूं वहां तो केवल अज्ञान रहता है यह ज्ञान तो नाश वाला हुआ इससे ज्ञात होता है कि नाश वाली वस्तु ब्रह्म से पृथक है?

उत्तर—देखो आत्मा को सर्व अवस्था का जानने वाला कहा गया है (साक्षी) सो केवल शरीर की उपाधि को लेकर कहा गया है वास्तव करके तो आत्मा अद्वैत रूप है अर्थात् ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय के भेद से शून्य है जब तक उपाधि को दूर करके न समझा जायगा तब तक अपने आपको पूरी २ समझ नहीं होती। देखो शरीर की तीन अवस्थायें हैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-जाग्रत अवस्थामें स्थूल रूप से दश इन्द्रियां चार अन्तःकरण और प्राण इन्हीं के समुदाय में कर्तृत्व भाव उत्पन्न होता है और स्वप्न अवस्था में सूक्ष्म रूप से दश इन्द्रियां चार अन्तःकरण और प्राण कर्त्ता होते हैं और सुषुप्ति दशा में अज्ञान और प्राण कर्ता होते हैं आत्मा इन तीनों अवस्थाओं का प्रकाशक है जागृत में तो जाग्रत अवस्था की सामग्री को सिद्ध करता है और स्वप्न अवस्था में स्वप्न सामग्री को तथा सुषुप्ति में सुषुप्ति सामग्री को

सिद्ध करता है अर्थात् जागृत में इन्द्रिय अन्तःकरण
प्राण के साथ एक रूप होकर अन्तर और बाह्य
विषयों को और विषयों के ज्ञान को और विषय
साधन को प्रकाशित तथा सिद्ध करता है और
अवस्था में सूक्ष्म इन्द्रिय और अन्तःकरण से एक
होकर अर्थात् अभिन्न होकर केवल अन्तर के मनो
सूक्ष्म विषय और उनका ज्ञान तथा उनके साधन
प्रकाशित तथा सिद्ध करता है और सुषुप्ति में
और प्राण के साथ तद्रूप होकर अर्थात् एक ही भाव
प्राप्त होकर अज्ञान के विषय और अज्ञान के ज्ञान
प्रकाशित तथा सिद्ध करता है इस रीति से
अर्थात् अपना आपा एक २ अवस्था का आत्मा
प्रत्येक अवस्था को सिद्ध करता है। जाग्रत में
का आत्मा होकर जाग्रत को सिद्ध करता है और
में स्वप्न का आत्मा होकर स्वप्न को सिद्ध करता
और सुषुप्ति में सुषुप्ति का आत्मा होकर सुषुप्ति
सिद्ध करता है। इसी प्रकार मूर्छा रोग मूढ़ता
अवस्थाओं को सिद्ध करता है अज्ञान में अज्ञान का
होकर अज्ञान को सिद्ध करता है ज्ञान में ज्ञान का
होकर ज्ञान को सिद्ध करता है सत् वस्तु का किसी

साथ विरोध नहीं होता और न किसी का बाधक किन्तु सबका साधक और सबका आत्मा होता है।

जो आत्मा को केवल जानने वाला माने तो न जानने वाला कौन होगा ? जानने वाला और न जानने वाला दोनों आत्मा हैं सत् वस्तु वही होती है जो ज्ञान और अज्ञान में समान रहे अर्थात् ज्ञान से जिसकी महिमा अधिक न होवे और अज्ञान से जिसकी महिमा न्यून न होवे किन्तु दोनों में समान रहे उसी को शास्त्रों में सत् नाम से वर्णन किया है। जो जानने वाली वस्तु को केवल सत् और चैतन्य कहें तो न जानने वाली वस्तु को असत् जड़ कहना होगा जब इस प्रकार का विचार करें तो अद्वैत वस्तु और अद्वैत ज्ञान की हानि होगी अतः ज्ञान तथा अज्ञान से उलङ्घित होकर ज्ञान और अज्ञान के मध्य ज्ञान तथा अज्ञान का प्रकाशक ज्ञान और अज्ञान का आत्मा होकर ज्ञान और अज्ञान में जो समान रहे सो आत्मा अर्थात् अपना आप है यदि सूक्ष्म दृष्टि करके देखा जाय तो एक अवस्था है जिसमें ज्ञान तथा अज्ञान स्वरूप होकर ऐसा अभेद है। जो ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय की कल्पना बन्ध और मुक्ति का भेद तथा आत्मा (अपना आप) अनात्मा (अज्ञान) का

विवेक सिद्ध गति को प्राप्त नहीं होता क्योंकि
अज्ञान बन्ध मोक्ष सृष्टि तथा प्रलय धर्म अधर्म
मरण किंवा जीवनमुक्ति आदि द्वन्द जिज्ञासु के
की निवृत्ति के लिये आचार्यों ने अध्यारोप करके
हैं वास्तव करके वस्तु मात्र आप में आप स्थित है
ज्ञान उस अवस्था में होता है जहां पर परिच्छिन्न
भाव अर्थात् देहाभिमान और भेद होता है जहां
दोनों नहीं होते तो कौन किसको जाने कौन कि
देखे और कौन किसको सुने। भेद और अभेद यह
अज्ञान करके सिद्ध हैं केवल सत्ता सामान्य अपने
में स्थित है ऐसी सत्ता को अपना आप जानना
आत्म ज्ञान है ?

प्रश्न ५९—भ्रम क्या वस्तु है और
निवृत्ति का क्या उपाय है।

उत्तर—भ्रम कोई वस्तु नहीं अज्ञानी मनु
एक प्रकार की कल्पना कर डाली है और वह
अथवा भ्रम आत्मा के यथार्थ बोध से निवृत्त हो
हैं अर्थात् स्थूल सूक्ष्म तथा कारण से पृथक केवल
स्वरूप को ज्ञानमात्र जानता है किंवा आपको
स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था का साक्षी अनुभव

किंवा जब अपने आपको नाम वर्ण आश्रम आदि का ज्ञाता और प्रकाशक निश्चय करता है अथवा जब आप को ज्ञाता ज्ञान तथा ज्ञेय से कर्ता कर्म क्रिया तथा ध्याता ध्यान धेय आदि त्रिपुटयों से रहित केवल शुद्ध और अक्रिय स्वरूप अपने को निश्चय करता हैं तब शीघ्र ही भ्रम की निवृत्ति हो जाती है इतर और किसी उपाय से भ्रम की निवृत्ति नहीं होती अर्थात् न ध्यान से न उपासना से न मन्त्र तन्त्र से और न तीर्थ आदि स्नान दान त्याग से और न एकान्त सेवन से और न ऋद्धि तथा सिद्धि से और न किसी वेष के धारण से और न शास्त्रों के अध्ययन करने तथा अन्य किसी धर्म कर्म से होती है केवल यथार्थ ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होती है। जो अपने प्रत्यक आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न जानकर साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञान है दूसरे पदार्थों का ज्ञान विक्षिप्तता चंचलता, तृष्णा, राग, द्वेष, ईर्षा, अभिमान आदि तामसी वृत्ति को उत्पन्न करता है इस लिये मुमुक्षुजनों को, भ्रम की निवृत्ति का उपाय केवल आत्म ज्ञान वेदान्ताचार्यों ने वर्णन किया है उसकी प्राप्ति के वास्ते प्रथम वैराग्य (दोश दर्शन) तथा परमात्मा की भक्ति और सत् गुरु के वचनों में पूर्ण विश्वास और

वेदान्त शास्त्र में श्रद्धा तथा उसका पुनः २
तथा मतमतान्तरों के खण्डन मण्डन से रहित
और वाक्य छल कपट आदि से रहित मित् भाषण
जब इस रीति से अन्तःकरण एकाग्र होजाये
में स्वाभाविक ही सत् वस्तु के प्रेम का उद्रेक
प्रगट होता है पश्चात् बोध की प्राप्ति के अर्थ
करण प्रवृत्त करेगा और दिन प्रतिदिन वृत्ति
तथा कोमल करके सत् वस्तु के आकार का बना
तथा सम्पूर्ण वासनाओं से मुक्त करा देगा इसलिये
जीवन का मुख्य प्रयोजन यही है और यही
लाभ है।

लौकिक तथा शास्त्रीय आदि कामनाओं को
त्यागकर ज्ञान भक्ति तथा वैराग्य के आश्रय होकर
ज्ञान को प्राप्त करे इसके अलावा जितने भी
ज्ञान तथा लाभ जो कुछ भी हैं सब ही कल्पित हैं
रूपी लाभ ही यथार्थ है क्योंकि ज्ञान सत् वस्तु
रूप है जिसको परमात्मा ब्रह्म पूर्ण आत्मा आदि
नामों से विख्यात किया है उसका स्वरूप ज्ञान है
अन्य कुछ नहीं अतः ज्ञान की प्राप्ति परमात्मा
प्राप्ति है ज्ञान के बिना और साधनों से परमा

प्राप्ति होना सर्वथा असम्भव है क्योंकि परमात्मा सर्व स्वरूप है अर्थात् सबका अपना आप है परन्तु वैदिक शिक्षा से अनभिज्ञ बेसमझ मनुष्य अपने से भिन्न दूसरे स्थलों में खोजते हैं जिससे भय का हेतु होकर अनेक प्रकार के यत्नों और साधनों के निमित्त प्रवृत्त होते हैं तथा क्लेश पर क्लेश उठाते हैं और जब ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है तब वह परमात्मा जो अबोध काल में दूसरा होकर प्रतीत होता था अपना आप होकर प्रकाशता है अतः जिसको सब जगत में एक ही ब्रह्म भावना उत्पन्न हुई है उसी का भ्रम निवृत्त हो जाता है इस विद्या करके जो मुमुक्षु आत्मपद को प्राप्त हुआ है वही योगीश्वर है कोई भगवान कोई ब्रह्मा विष्णु तथा रुद्र आदि नाम करके बोलते हैं इत्यादिक नाम वेदान्ताचार्यों ने मुमुक्षु को जगाने के निमित्त उपदेश के वास्ते कल्पित कर रक्खे हैं वास्तव में सब ही आत्म चैतन्य का रूप है इस प्रकार जो जानता है वह पूजने के योग्य है।

प्रश्न ६०—शास्त्रों में जो यह लिखा है कि अपने स्वरूप में स्थित रहो और अपने स्वरूप को जानो सो स्वरूप-नामतथा आकार वाली वस्तु का होता है और

आत्मा का कोई आकार है नहीं तो उसका
हुआ जिसमें स्थित् रहे ?

उत्तर—स्वरूप का अर्थ है आत्मा और
अर्थ है अपना आप सो शास्त्रों का प्रयोजन
स्थित् होने से यही है कि अपने आप में
अर्थात् जो सम्पूर्ण जगत् तथा त्रिपुटी का साक्षी
जो सदा ही जाग्रत रूप है। और यह जो तुमने
स्वरूप आकार वाली वस्तु का होता है ऐसा
नहीं कि आकार वाली वस्तु का ही स्वरूप होता
निराकार वाली वस्तु का नहीं किन्तु दोनों
होता है जैसे आकाश निराकार है और पृथ्वी
वाली वस्तु है आकाश का स्वरूप शून्य है
के द्वारा उसका ज्ञान होता है और शब्द
करने से आकाश के होने का निश्चय रूप होता
पृथ्वी का स्वरूप कठोर और मोटा अर्थात् स्थूल
और नेत्रों से उसका ज्ञान होता है अर्थात्
इन्द्रियां उसको विषय कर सकती हैं उसी प्रकार
की तरह यह स्थूल आकार वाला देह है और
की तरह आत्मा है सो निराकार है जैसे
ज्ञान शब्द द्वारा होता है और शब्द पर

आकाश में स्थिति होती है उसी प्रकार चिदाकाश आत्मा का ज्ञान भी ज्ञानी गुरू के उपदेश से होता और उस उपदेश पर विश्वास करने से अपने आत्मा स्थिति होती है स्वरूप तो नित्य स्थित है केवल ज्ञान प्राप्त करना है कि मैं सत् चित् आनन्द रूप आत्मा हूं चिदाकाश रूप हूं निराकार रूप हूं शून्य विज्ञान घन हूं कूटस्थ तथा साक्षी रूप हूं इस प्रकार बारम्बार अपने को स्मरण करना तथा निश्चय करना स्वरूप में स्थिति कहलाती है जो हमारा स्वरूप नित्य स्थित् है नाम जाति वर्ण आश्रम निराकार हैं क्योंकि चक्षु इन्द्रिय का अविषय हैं और इनमें सब प्राणियों को ऐसी स्थिति हो जाती है कि सब कोई नाम मात्र वर्ण आश्रम अपने को निश्चय कर बैठता है विचार करके देखो तो यह सब ही कल्पित है जब कल्पित् निराकार वस्तु में ऐसी स्थिति हो रही है तो सत् निराकार वस्तु में जो अपना आप है स्थिति होने में क्या परिश्रम है। तुम आत्मा हो स्वरूप भी तुम हो और ज्ञान तुम्हारा आकार है ज्ञान स्वरुप आपको निश्चय करके स्थित रहो और शान्ति के साथ काल को व्यतीत करो ऐसी अवस्था दृढ़ अभ्यास का फल है यह अभ्यास मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा परिपक्व

होकर निर्विकल्प समाधि करके साक्षात्कार
तत्र केवल जो सत्ता मात्र चिद्घन निराकार
अनुभव होता है।

प्रश्न ६१—जीव भावना कब तक है?

उत्तर—जब तक देहाभिमान है अर्थात्
(संकल्प रूपी मन) है उसमें जिसको स्थूल शरीर
मान होता है उसको ही अपने गोरे श्याम कठोर
वर्ण आश्रम का अभिमान् होता है। जिस
अनात्मा में आत्म अभिमान है तब तक
जीवत्व भाव है क्योंकि ऐसे मनुष्य की आदि
है ऐसे अभिमानी की सम्पूर्ण क्रियायें सत् से रहित
होती हैं। देखो यह संसार सम्वित् रूप है अर्थात्
रूप है और सम्वित् ही विश्वरूप है जब सम्वित्
मुख होकर पदार्थों का आस्वादन करती है
लेती है तब जाग्रत अवस्था को यह प्राणी अनुभव
है कि मैं जागता हूँ और जब यही सम्वित्
होकर रस लेती है तब स्वप्न का अनुभव होता
जब शान्त हो जाती है तब सुषुप्ति का अनुभव
संसार को सत् जानकर जो रस लेती है तब जाग्रत
सुषुप्ति का ग्राम होती है और सम्वित् से

जाती रहती है तब तुर्यपद को प्राप्त होती है। जब तक पदार्थों के सत्य झूठ का संकल्प विकल्प नष्ट नहीं होता तब तक जीव भावना बनी रहती है अर्थात् जब तक भाव अभाव की कलना उठे तब तक इसको जीव कहते हैं।

प्रश्न ६२—जब जन्म, मरण, स्वर्ग, नर्क, बन्ध, मोक्ष, सब ही कल्पित हैं और ज्ञानी अज्ञानी में स्वरूपता कुछ भेद नहीं है तो फिर मोक्ष के लिये इतने कष्ट क्यों उठाये जायें ?

उत्तर—देखो यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के वास्ते मन का निरोध और दैवी सम्पदा का होना जरूरी है इस वास्ते जिज्ञासु को दैवी स्वभाव बनाने के निमित्त प्रवृत्त किया जाता है क्योंकि यथार्थ ज्ञान से अपने स्वरूप का बोध और जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय होकर जन्म मरण आदिक संशयों से छूट जाय मन के निरोध से भूत भविष्यत् स्मृति और चिन्ता से रहित वर्तमान् काल में राग द्वेश से रहित होकर सुख पूर्वक समय को व्यतीत करे अर्थात् वर्तमान में जीवन यात्रा को शान्ति पूर्वक बितावे तथा दैवी सम्पदा के स्वभावों से युक्त होकर काल की भिन्न २ अवस्थाओं तथा शारीरिक दुख अथवा सम्बन्धियों का संयोग वियोग आपद तथा सम्पद और व्यवहार की

प्रवृत्ति वा निवृत्ति में धैर्य पूर्वक समबुद्धि रक्खे और
शरीर धारियों के भिन्न २ स्वभाव तथा वचन सहन
सम बुद्धि वाला शान्तपुरुष कामना आदि से रहित
है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधि
दुखों को सुख पूर्वक सहन कर लेता है इसी से
पर्यन्त सुख पूर्वक आयु को व्यतीत करने के योग्य
वान् होता है अतः इन तीनों सुख साधनों
जिज्ञासु को पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे
सम्बन्धी काल, शोक, चिंता तथा राग
से शून्य और सुख दुख तथा सम्पद् आपद् में
व्यतीत होवे। ज्ञानी अज्ञानी में ज्ञान और
का भेद है और कोई भेद नहीं यह ज्ञान तथा
अन्तःकरण के धर्म हैं और अन्तःकरण में रहते हैं।
और इन्द्रियों की चेष्टा और उनके व्यवहार
कोई भेद नहीं अतः ज्ञानी और अज्ञानी के शरीर
ज्ञान और अज्ञान करके कोई भेद नहीं होता
शरीर पंच भूत दश इन्द्रियां चार अन्तःकरण तथा
के आश्रय चेष्टा करता रहता है और वास्तव
ज्ञानी तथा अज्ञानी का समान ही है उसमें भी ज्ञान
करके भेद प्रवेश नहीं करता। ... अभेदरू

सामान्य है अतः ज्ञानी अज्ञानी का भेद वास्तव नहीं कल्पित है जिससे ज्ञान और अज्ञान भी साक्षी भाष्य होने से कल्पित हैं और कल्पित वस्तु अधिष्ठान को विकारी नहीं कर सकती इससे कल्पित ज्ञान और अज्ञान वास्तव स्वरूप में भेद की उत्पत्ति नहीं कर सकता इस लिये भेद व्यर्थ है (असिद्ध) जब भेद ही नहीं तो फिर बताओ कि ज्ञानी और अज्ञानी, में भेद किस प्रकार सिद्ध होगा केवल मध्य भापी अवस्था में ज्ञानी अर्थात् विवेक वैराग्यवान सर्व पदार्थों को यथोचित् अर्थात् ठीक २ जानकर उपयोग में लाता है और अज्ञानी असम्यक प्रकार से पदार्थों को वर्तता है अर्थात् दुरुपयोग में लाता है। इसी के कारण वर्तमान काल में दुख पर दुख उठाता है किंवा ज्ञानी और अज्ञानी में भेद भी है ज्ञानी जानता है कि न मेरा जन्म है और न मरण है और न मैं शरीर हूं और न मेरा शरीर है मैं जो हूं सो हूं जिसमें ऐसा तथा वैसा नहीं इससे निर्भय होकर अपने आनन्द में मस्त रहता है यही उसका ब्रह्मभाव है क्योंकि ब्रह्मभाव नैष्कर्म्य की एक अवस्था है कि जिसमें काम करने के खयालात सब शान्त हो जाते हैं इसलिये वह कृतार्थ है अर्थात् उसके दिमाग में करने कराने का जो भूत सवार

था वह भूत अब प्रवेश नहीं करता अब वह स्वयं ब्रह्म रूप होकर आनन्द की मस्ती में सामगान गाता हुआ झूमता है कि मैं ब्रह्म हूं ब्रह्म हूं किंवा मैं अन्न हूं प्राण हूं मैं ही सूर्य हूं इत्यादि और ब्रह्म का लक्षण भी यही है। अज्ञानी यह जानता है कि मैं मरूंगा और फिर मेरा जन्म होगा मैंने पाप किया है उसका फल दुख अवश्य मिलेगा मैंने पुण्य किया है उसका फल सुख अवश्य भोगूंगा इससे भयमान होकर शोक युक्त रहता है और उसकी निवृत्ति के अर्थ अनेक प्रकार के कष्ट सहन करता हुआ विक्षिप्तता को प्राप्त होता है और फिर भी संशय निवृत्त नहीं होते। जब तक यथार्थ बोध न हो तब तक संशय करके स्वयं ही दुख पर दुख उठाता रहता है शांति कदापि नहीं पाता विचार की दृष्टि से देखो तो उसका भी जन्म मरण कोई नहीं क्योंकि स्वरूप सबका समान है ज्ञान और अज्ञान दोनों कल्पित हैं न शरीर के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है और न अज्ञान तथा न भेद, अभेद। केवल शरीर दशा विषय मध्य भावी संशयों की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान से होती है जिससे ज्ञानवान् तो निसंदेह होकर काल को सदुपयोग में लाता है और अज्ञानी से श्रेष्ठ माना जाता है सो यथार्थ है और यथार्थ

सिद्धान्त भी यही है कि जहां मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ऐसे लीन होजावें कि अपनी स्फूर्ति रूप शक्ति कर कुछ भी न समझ सकें किन्तु जड़ रूप होकर स्थित रहें और जब तक स्फूर्ति रूप शक्ति के आश्रय किंचित् भी सोचते और समझते हैं तो उस समय तक विक्षिप्तता और मनादि अवश्य रहते हैं विक्षिप्तता कदापि निवृत्त नहीं होती। और जब मन का संकल्प तथा चित्त का चिन्तन और बुद्धि का ज्ञान (निश्चय) तथा अहंकार की अहंता असमर्थ (निर्बल) होकर विलीन हो जावे तब जो सत्ता शेष रहे सो यथार्थ है वास्तव में तो वस्तु ज्यों की त्यों है केवल समझने का भेद है अतः न कोई ज्ञानी है न कोई अज्ञानी है एक सत्ता ज्यों की त्यों स्वयं सिद्ध अपने आप में स्थित है बस इसी स्थिति का नाम परंपद है।

प्रश्न ६३—आत्मा का दर्शन क्या है और सांसारिक शोक तथा मोह रहता है अथवा नहीं ?

उत्तर—अभ्यास करते करते शरीर में शून्यता शान्ति सुख तथा मस्ती आ जाती है। यही आत्मा का दर्शन है क्योंकि आत्मा नाम अपने आपका है जब सुख शान्ति का अपने आप में अनुभव करता है इसी का नाम दर्शन है। बोधवान दोनों प्रकार का ख्याल छोड़

कर केवल अपनी आत्मा को देखता है अज्ञानी मनुष्यों को पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों से जो विषि- ष्तता होती है अर्थात् अमुक पुण्य नहीं किया इसका फल मुझको नहीं मिलेगा तथा अमुक पाप मैंने किया है इसका फल दुख अवश्य भोगना पड़ेगा यह शोक ब्रह्म- ज्ञान को नहीं सताते। ब्रह्म ज्ञान से प्रथम शोक मोह की निवृत्ति होती है दूसरे आनन्द की प्राप्ति होती है आत्म ज्ञान भूमाभाव है कि मैं ही मैं हूं इससे ऊंचा दर्जा और कोई नहीं है क्योंकि जहां एक ही एक रह गया वहां शोक मोह किस प्रकार रह सकता है जो मनुष्य इस भूमा भाव को यथोचित समझ लेते हैं उनको दो लाभ और होते हैं एक तो आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक किसी भी प्रकार के दुख नहीं सताते और स्वर्ग का भय जो पुण्य आदि के पूरा होने पर गिरने का तथा ईर्षा आदि के दुख नहीं सताते क्योंकि लोक- पाल बनकर भी मनुष्य को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती यह पूरी पूरी स्वतन्त्रता आत्म दर्शन के द्वारा ही प्राप्त होती है बस यही सबसे बड़ा लाभ है मनुष्य जो कुछ भी हृदय में देखता है वह सब का सब ही मनोराज्य है अर्थात् मन की कल्पना है जैसे मनुष्य स्वप्न में मन से

कल्पना से अनेक प्रकार के रूपों को अवलोकन करता है उसी प्रकार कुछ मनुष्य अपने हृदय में किसी माया की वस्तु का दर्शन पाकर प्रसन्न होते और अपने को कृत्य २ मान बैठते हैं कि हमने दर्शन पाया है सो यह दर्शन नहीं है वरन् भ्रम है आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप है और अपने आपको ज्ञान स्वरूप निश्चय करना ही आत्मा तथा परमात्मा का दर्शन है दर्शन दूसरी वस्तु का होता है और आत्मा अपने आपको कहते हैं और अपना आपा सबको प्रत्यक्ष है उसमें विश्वास का न होना यही अपने आपको धोखा देना है।

प्रश्न ६४—तत्व वेत्ता निरन्तर समाधि में कैसे रहते हैं ?

उत्तर——समाधि अवस्था में साधक समता भाव को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसका अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और फिर उस अन्तःकरण के दो विभाग हो जाते हैं एक सविकल्प दूसरा निर्विकल्प, सविकल्प वह है कि जब किसी शब्द पर अर्थात् ओंकार पर अथवा महा वाक्य पर अथवा किसी दूसरे मंत्र पर किंवा स्वाध्याय के आश्रय वृत्ति को एकाग्र किया जाता है और निर्विकल्प की वह दशा है कि जब अद्वैत

भावना करके केवल वृत्ति के अद्वैत समता भाव में ल
जाता है जिसमें उच्चारण और विचार की सहायता
लेनी पड़ती अर्थात् वृत्ति सर्व प्रकार के चिन्तन से
संशय तथा विपर्यय से रहित सर्व आत्मा रूप समता
के प्राप्त हो जाती है इस शुद्ध ज्ञान के ही निर्वि
समत्व भाव कहते हैं जब बहुत काल तक अभ्यास कि
जाता है तब मंत्र के जाप तथा पाठ और विचार
बिना केवल भावना से ही वृत्ति एकाग्र हो जाती
इस समत्व अन्तःकरण में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं र
क्योंकि स्वाभाविक वृत्ति अद्वैतरूप होकर स्थिर हो ज
है सो यह अवस्था पुण्य रूप है जिसमें पूर्ण रूप से
स्थित होकर जीवन मुक्ति का आनन्द लेता है
का दूसरा नाम सहज समाधि है। यह कभी ख्याल न
करना चाहिये कि समाधि शून्य होती है शून्य सम
कदापि नहीं होती और यह भी ध्यान रखना चाहिये
वृत्ति चैतन्य के प्रतिबिम्ब सहित ही होती है क्यों
वृत्ति सत्व गुण का कार्य होने से शुद्ध है इसीलिये
चैतन्य का आभास सदा रहता है और उस आ
के संग से वृत्ति चैतन्य होती है जैसे स्वप्न काल में स
जगत् प्रतीत होता है और बाहर से इन्द्रियां शून्य

देखी जाती हैं और अन्दर संसार का भान होता रहता है उस दशा में भी आभास सहित वृत्ति ही जगत रूप होकर प्रतीत होती है और साची चैतन्य उसको प्रकाश करता है उसी प्रकार सविकल्प में भी आभास सहित वृत्ति शब्द का उच्चारण करती है और साची प्रकाश करता है और जब अभ्यास की दृढ़ता से निर्विकल्प की प्राप्ति होती है तो जो वृत्ति नाना आकार को धारण कर रही थी लीन हो जाती है जैसे सुषुप्ति अवस्था में वृत्ति अज्ञान में लीन हो जाती है केवल चैतन्य मात्र ही रहती है उसी प्रकार निर्विकल्प अवस्था में वृत्ति बोध में लीन हो जाती है केवल अनुभव मात्र ही रहता है जैसे जल की एक बूंद समुद्र में डालें तो समुद्र रूप होजाती है तद्वत् ही वृत्ति अद्वैत की भावना करते २ अद्वैत रूप हो जाती है ।

समाधि से उत्थान भी वृत्ति का ही होता है और वृत्ति ही शरीर में बंधायमान होती है जैसे सुषुप्ति से वृत्ति जब जाग्रत अवस्था में लौटती है तब स्थूल शरीर और जगत के पदार्थों में संबद्ध हो जाती है परन्तु तत्व वेत्ता को ऐसा कदापि नहीं होता क्योंकि वह जाग्रत अवस्था में आत्मा के विराटस्वरूप का दर्शन करता

हुआ पुनः साक्षी रूप से स्थित रहता है यदि कहो
विचार करते हुए भी वृत्ति सांसारिक पदार्थों और स्थू
शरीर में वारम्बार क्यों दौड़ लगाती है तो इसके
कारण हैं एक तो वैराग्य सहित विचार की न्यूनता
(कमी) दूसरी यह कि वृत्ति का शरीर के साथ बहु
काल का सम्बन्ध । जब जिज्ञासु प्रत्येक क्षण अ
वास्तविक स्वरूप का स्मरण रखता है तब उसके निश्च
में शरीर की क्षण भंगुरता और संसार की नश्वरता
(अभाव) सदा बनी रहती है इसी कारण समाधि से उत्था
दशा में भी मुक्त अवस्था ही रहती है क्योंकि
अभ्यास के बल से अज्ञान रचित द्वैत का अभाव
जाता है जब द्वैत का अभाव अर्थात् नाश होगया औ
मैं तू का झगड़ा चुक गया उस समय समाधि त
उत्थान का भेद भी नहीं रहता आत्मा सदा एक
अद्वैत रूप ज्यों का त्यो अपने आप में स्थित है यही स
अनुभव रहता है।

वृत्ति का झगड़ा वृत्ति को फंसा रहा है यह
कल्पित रूप है और वृत्ति की सम्पूर्ण अवस्थायें
कल्पना मात्र हैं इन विकल्पों को भी मन से दूर
निज स्वरूप में निष्ठा पा जाता है जिसका फल

होता है कि किसी के बुरा भला कहने पर किंचित मात्र भी क्षोभवान् नहीं होता बस यही निर्विकल्पता है तथा यही स्थिति सदा रहना ही समाधि है इस तत्व विचार से भिन्न अज्ञान करके जितने भी साधन हैं सब ही व्यर्थ हैं तथा त्यागने के योग्य हैं केवल निज स्वरूप में ही स्थिति कर्तव्य है यह कभी ख्याल नहीं करना चाहिये कि निरन्तर समाधि में स्थित होने से तत्ववेत्ता प्रपंच को देखता ही नहीं बल्कि उसके ज्ञान में छाया के रूप में दिखाई देता है उसकी दृष्टि में सर्व जगत चित्रवत् स्वप्न संसार हो जाता है और उसका उसकी तरफ ध्यान तक नहीं जाता जैसे मनुष्य दर्पण में संसार के आकार तो देखता है परन्तु उसको मिथ्यात्व का ही (अनुभव) निश्चय होता है इसी प्रकार यह प्रपंचाकार उसके ज्ञान रूपी दर्पण में मिथ्या होजाते हैं और स्वयं ही सम्पूर्ण संसार का प्रगट स्थान वा प्रगट करता जानता है विचार की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञान स्वरूप परमात्मा जो कि प्रज्ञानघन है सबका अपना आत्मा है वही प्रत्येक रूपों में विभूतिमान दृष्टिगत हो रहा है यह तत्ववेत्ता की निरन्तर स्थिति यही समाधि है ?

प्रश्न ६५—जिस बोध अथवा ज्ञान स्वरूप परमा-त्मा में यह सम्पूर्ण जगत् अनुभव होता है उसको प्रत्येक शरीर में अलग २ अहं प्रतीति किस प्रकार हुई क्योंकि वह तो सर्वात्मा है और आत्मा एक है अद्वैत आत्मा में यह जड़ चैतन्य भाव कैसे हुआ ?

उत्तर—जैसे शरीर में हाथ पैर आदिक अंग हैं उन अङ्गों में एक शरीर व्यापा हुआ है और कोई मनुष्य एक अङ्ग को पकड़ कर नाम ले कि इसका क्या नाम है तो वह अपनी नाम संज्ञा कहता है अब विचार करो कि उसने एक अङ्ग विषय अपने आपको क्यों कहा क्या उसकी सम्पूर्ण अङ्गों में आत्मता नष्ट हो गई अर्थात् नाश भाव को प्राप्त न हुई उसी प्रकार आत्मा अनुभव स्वरूप सर्व व्यापक एक रस और अनन्त है तथापि एक अंग में उसकी आत्मता फुरी है अर्थात् अहं भावना का अनुभव हुआ है उस करके उसकी सर्व आत्म भावना खंडन नहीं होती अथवा जैसे पत्र फूल फल शाखा आदि अङ्गों में एक ही वृक्ष व्यापा हुआ स्थित है परन्तु एक शाखा अथवा पत्र को पकड़ कर कहे कि यह क्या है तो उत्तर मिलता है कि यह शाखा है यह पत्र है तब क्या इस कहने से उस वृक्ष के एक

अंग विषय शाखा पत्र कहने से उस वृक्ष में सर्व आत्मता नष्ट नहीं हो जाती उसी प्रकार सर्वात्मा भिन्न २ शरीर में अंह भाव करके सिद्ध होता हैं प्रत्येक शरीर में अंह भाव करने से उसमें कोई द्वैत पना नहीं हो जाता अर्थात् परिच्छिन्नता नहीं आजाती तथा जड़ चैतन्य दोनों भाव एक ही ने धारण किये हैं एक ही के यह दो रूप हैं जैसे एक ही शरीर में जड़ता और चैतन्यता यह दोनों भाव सिद्ध होते हैं हाथ पैर जड़ रूप से प्रतीत होते हैं और चक्षु इन्द्रिय इनके देखने वाला चैतन्य प्रतीत होता है इस प्रकार एक ही शरीर दोनों को धारण कर रहा है और दोनों एक शरीर के ही रूप हैं उसी प्रकार एक ही आत्मा ने अर्थात् ज्ञान स्वरूप परमात्मा ने जड़ और चैतन्य भाव धारण किये हैं इससे भेदवाद असिद्ध है और अभेदवाद सिद्ध है।

प्रश्न ६६—इस जगत् की उत्पत्ति से पूर्व यद्यपि आत्मा (ब्रह्म) में यह कार्य रूपी जगत् नहीं था तो भी प्रलय काल में प्रकृति तो स्थित थी इससे माया करके ही ब्रह्म में द्वैतपना अर्थात् भेदपना सिद्ध हो जायगा यदि माया को नहीं मानोगे तो शुद्ध ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती इससे द्वैतवाद ही सिद्ध है।

उत्तर—उस निर्गुण तथा निराकार निर्वपु चिदात्मा किंवा ब्रह्म में सृष्टि के कारण की सिद्धि करने वाली जो प्रकृति किंवा माया है द्वैत रूप करके सम्भव हो सकती है तथापि उस ब्रह्म में वास्तव करके नहीं है बल्कि उस माया करके मोहित अज्ञानी जीव ही उस माया नटी को शुद्ध ब्रह्म में देखते हैं अतः वह माया उस निराकार ब्रह्म में माया करके ही सिद्ध है जैसे अस्मदादि जीवों को प्रत्यक्ष प्रमाण करके सिद्ध जो दिन है उसी दिन को उल्लू पक्षी रात्रि का अनुभव करता है उस दिन में जो उसको रात्रि प्रतीत होती है उसमें उसका (उल्लू) का अपना अनुभव ही प्रमाण है और दूसरा कोई प्रमाण नहीं उसी प्रकार माया विषय भी उन अज्ञानी जीवों को अपना अनुभव ही प्रमाण है दूसरा कोई प्रमाण उस माया के विषय नहीं अतः माया, माया करके ही सिद्ध है जैसे सूर्य भगवान् में अंधकार का सर्वथा अभाव है यदि वह सुमेरु पर्वत के पीछे हो जाते हैं तभी रात्रि में अज्ञानी जीव अंधकार की कल्पना करने लग जाते हैं उसी प्रकार वास्तव में माया रहित जो परमात्म देव हैं उसमें अज्ञानी मूढ पुरुष माया की कल्पना करते हैं और जिसके [illegible] जितना

अज्ञान अधिक होता है उसको उतना ही नानत्व पने का भ्रम भी अधिक होता है और वह स्वयं उस परम तत्त्व को संसार का सृष्टा आदि मान बैठता है और उस बुद्धि में भ्रम हुये पश्चात् यह जीव है यह प्रकृति है यह बन्ध है यह मोक्ष है ऐसा मान बैठता है यदि विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि स्वरूप के आदि में स्फूर्ति ही नहीं हुई तो चैतन्य जीव कैसे हुआ और जब जीव ही नहीं तो बुद्धि कहां से आई और जब बुद्धि ही नहीं तो मन कहां से हो और मन ही नहीं तो इन्द्रिय कैसे हों और इन्द्रिय नहीं तो शरीर कैसे हो जब शरीर ही नहीं तो जगत् कहां से आया अतः शुद्ध अद्वैत तत्व अपने आप में स्थित है दूसरे का सर्वथा अभाव है इसलिये सृष्टि की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन करने वाली व्यवहारिक समान श्रुतियों को छोड़कर जिन से ज्ञान प्राप्त हो उन्हीं श्रुतियों को ग्रहण करना चाहिये जिस प्रकार रस्सी का रूप जान लेने पर सर्प भ्रम नहीं रहता उसी प्रकार अधिष्ठान के जान लेने पर सृष्टि की उत्पत्ति आदि की कोई कल्पना नहीं रहती।

प्रश्न ६७—परमात्मा के अनुभव में अनेक ब्रह्मांड है इसका क्या अर्थ है और वह प्रत्येक वस्तु के साथ

कैसे तद्रूप होता है और अणु २ में ब्रह्मांड कैसे ?

उत्तर—देखो अनुभव अगाध अपार और अनन्त है ब्रह्मांड क्या वस्तु है। जैसे आकाश में धूली के परमाणु जैसे स्वप्न काल में जो ब्रह्मांड है सो स्वप्नदृष्टा के अनुभव में है उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में जो ब्रह्मांड है वह भी अनुभव में है प्रत्येक शरीर में दो (२) अवस्था होती हैं और उन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मांड होते हैं जिससे शरीर अनन्त हैं इसी से ब्रह्मांड भी अनन्त हैं यह अनन्त ब्रह्मांड अनुभव में ही ठहरे हुए हैं और अनुभव अद्वैत रूप है और वह अद्वैत अनुभव, परमात्मा ब्रह्म चैतन्य चिन्मात्र आदिक नामों से शास्त्रों में तथा महात्माओं ने जिज्ञासुओं के बोध के निमित्त कल्पे हैं उसी में अनन्त ब्रह्मांड हैं उसी अनुभव अगाध समुद्र में फुरने से अनन्त ब्रह्मांड स्थित हैं जैसे समुद्र में फुरने से अनेक तरङ्ग उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी समुद्र में समा जाते हैं उसी प्रकार परमात्मा के अनुभव में फुरने से अनेक ब्रह्मांड उत्पन्न होते और पुनः उसी में समा जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि जैसे एक बीज से बहुत वृक्ष उत्पन्न होते हैं यह शंका नहीं करनी चाहिये कि यह

अनुभव के विरुद्ध है कहीं एक बीज से भी अनेक वृक्ष उत्पन्न होते हैं इस शंका का समाधान यह है कि यह तो तुम भी अङ्गीकार करते हो कि एक बीज से एक वृक्ष उत्पन्न होता है और वह वृक्ष बहुत काल के पश्चात् अनेक फल देता है और हर साल फल देता है वह फल सब बीज रूप ही हैं इस प्रकार अनन्त बीज निकलते हैं और प्रत्येक बीज में वृक्ष है अब किंचित् विचार करो कि एक बीज में कितने वृक्ष हुए अतः इस दृष्टि को लेकर हम कह सकते हैं कि सब वृक्ष एक बीज में रहते हैं उसी प्रकार अनुभव रूपी बीज है और ब्रह्मांड वृक्ष रूप है अतः अनेक ब्रह्मांड एक के अनुभव में हैं विशाल और गम्भीर बुद्धि से गम्भीर वस्तु का विचार करना उचित है तुच्छ और परिच्छिन्न बुद्धि तो अज्ञान और भ्रान्ति में भटका करती है।

बुद्धि पूर्वक विचार करने से संशय की निवृत्ति होती है जैसे पंडित के ज्ञान में विद्या है उसी प्रकार परमात्मा के ज्ञान में अनेक ब्रह्मांड हैं जैसे ज्ञान के बिना विद्या का स्वरूप कुछ नहीं उसी प्रकार ज्ञान के बिना ब्रह्मांड का स्वरूप कुछ नहीं अर्थात् ज्ञान ही ब्रह्मांड स्वरूप है और वह ज्ञान परमात्मा का स्वरूप है इससे

ब्रह्मांड परमात्मा का स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मांड कोई भिन्न वस्तु नहीं है, परमात्मा ही है, सम्पूर्ण ब्रह्मांड उसी के अनुभव से प्रकाशित होते हैं, सब का अर्थात् फल फूल लता आदि की सत्ता स्फूर्ति देने वाला सबका अनुभव कर्ता वही है, एक वस्तु ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है दूसरा न कुछ है और न होगा वह अद्वैत रूप है, और अणु अणु में ब्रह्मांड का तात्पर्य यह है कि यह जो मन है वह भी अणु है क्योंकि भूतों का कार्य्य होने से अणुरूप है प्रत्येक मन प्रत्येक सृष्टि है अर्थात् जितने भी मन हैं उतने ही ब्रह्मांड हैं क्योंकि जगत मनोमात्र है, सो प्रत्येक मन की अपनी २ कल्पना है इसलिये अणु अणु में सृष्टि है, जैसे एक मनुष्य की आयु में अनेक स्वप्न किंवा मनोराज्यों की उत्पत्ति और लय होती है वह सर्व ही मनुष्य का स्वरूप है उसी प्रकार एक ब्रह्मांड में मन की कल्पना करके अनेक जगत उत्पन्न हो होकर लीन हो जाते हैं परन्तु सर्व ही ब्रह्मांड स्वरूप हैं और वह ब्रह्मांड अनुभव स्वरूप है और वह अनुभव परब्रह्म स्वरूप है, और वह ब्रह्म अद्वैत रूप है इससे ब्रह्मांड भी अद्वैत रूप है यह तत्व दृष्टि तत्व वेत्ताओं की होती है, भगवत् ज्ञान का अर्थात् उस अनुभव

सत्ता का यह विचित्र रहस्य है कि उस परम तत्व सर्व शक्तिमान में जो संकल्प किंवा ख्याल हुआ वही प्रत्येक रूप से तद्रूप होगया। उस परम तत्व में विचित्र शक्ति यह है कि जब वह जड़ वस्तुओं के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होता है तब वह अपने स्वरूप को अपनी आस्तित्वा पादक और अभान पादक आवरण शक्ति के द्वारा ढक लेता है और वह परम तत्व अनुभव स्वरूप सर्व का अधिष्ठान् ज्ञानस्वरूप आत्मा अविद्यमान की तरह अर्थात् बेमालूम सा प्रतीत होता है। अतः जड़ वादियों को बेसमझी के कारण जड़ प्रतीत होता है और जहां यही संकल्प चैतन्य व्यक्ति के रूप में बदलता है अर्थात् चैतन्य के साथ तादात्म्य भाव को प्राप्त होता है तब अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा को आवरण नहीं करता अर्थात् अपने को नहीं छिपाता वरन् उसके स्वरूप का प्रकाश होता है।

इस विचित्र रहस्य का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को स्वप्न में स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि स्वप्न संसार में जो कुछ भी हमको दिखलाई देता है वह सब कल्पित आकृतियां हैं और परम तत्व जो अधिष्ठान इस स्वप्न जगत का भगवद्ज्ञान है अर्थात् सत

स्वरूप आत्मा अनुभव रूप है कि जिसके आश्रय असत् भी सिद्ध होता है वह परम तत्व पंच कोशों में छिपता नहीं जैसे कपूर की सुगन्ध नहीं छिपती उसी प्रकार पंच-कोशों में आत्मा नहीं छिपता जिसको आवरण करने की किसी को सामर्थ्य नहीं वही सबको ढांक रहा है। परन्तु जहां उसका संकल्प पृथ्वी और आकाश के रूप में तद्रूप होता है वहां वह परम तत्व किंवा भगवद्ज्ञान उसी प्रकार शून्य वादियों को शून्य सा प्रतीत होता है अर्थात् जड़ और अविद्यमान सा देख पड़ता है जैसे जड़ पदार्थ बाहर से निश्चेष्ट दिखाई देते हैं परन्तु जहां मनुष्य और पशु पक्षी आदि के रूप का संकल्प है वहां वह तत्व चैतन्य रूप प्रतीत होता है यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो जड़ और चैतन्य का कोई भेद नहीं। जड़ता और चैतन्यता अल्प दृष्टि करके प्रतीत होती है क्योंकि वही परम तत्व किंवा भगवद्ज्ञान तमो-गुणी वस्तुओं के साथ मिलकर सघन रूप हो अक्रियवान सा स्थित है और जहां तमोगुण का आवरण नहीं है वहां वह अनुभव सत्ता द्रवीभूत सी प्रतीत होती है अर्थात् क्रियावान सा प्रतीत होता है वास्तव करके वह परम तत्व अपने स्वरूप से न जड़ हुआ और न चैतन्य

दोनों भाव इस तत्व करके ही प्रसिद्ध होते हैं जैसे सूर्य करके दिन और रात्रि होते हैं।

प्रश्न ६८—अपना अनुभव ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न ?

उत्तर—ब्रह्म से अनुभव भिन्न नहीं बल्कि नित्य तथा निश्चल शुद्ध स्वरूप दृष्टा दर्शन तथा दृश्य से सर्वथा रहित अनन्य रूप है यह सम्पूर्ण जगत् अर्थात् स्थूल सूक्ष्म तथा कारण उस अनुभव सत्ता में विराजमान है और उस अनुभव सत्ता से अहं भिन्न नहीं दोनों एक ही रूप हैं जैसे जल और द्रवता में कुछ भेद नहीं किंवा जैसे स्वर्ण से भूषण भिन्न नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म से अनुभव भिन्न नहीं, और अनुभव से अहं भिन्न नहीं और अहं से जीव भिन्न नहीं, और जीव से मन भिन्न नहीं, और मन से इन्द्रियां भिन्न नहीं, और इन्द्रियों से यह शरीर भिन्न नहीं, और शरीर से यह जगत भिन्न नहीं, और जगत से ब्रह्मांड भिन्न नहीं, और ब्रह्मांड से त्रिलोकी भिन्न नहीं, और त्रिलोकी से भगवान विराट भिन्न नहीं, और विराट से हिरण्यगर्भ भगवान भिन्न नहीं और हिरण्यगर्भ से अन्तर्यामी माया विशिष्ट ईश्वर भिन्न नहीं है और ईश्वर से ब्रह्म भिन्न नहीं, और ब्रह्म

से आत्मा भिन्न नहीं और आत्मा अर्थात् अपना आप अनुभव रूप है और अनुभव ही अहं स्फुरण है।

जैसे प्राणधारियों के शरीर पृथ्वी से भिन्न नहीं और पृथ्वी जल से भिन्न नहीं और जल अग्नि से भिन्न नहीं और अग्नि वायु से भिन्न नहीं और वायु आकाश से भिन्न नहीं और आकाश माया से भिन्न नहीं और माया ब्रह्म से भिन्न नहीं और ब्रह्म अनुभव रूप सर्व आत्मा है और सर्व रूप भी वही है जैसे शुद्ध आकाश में नीलता प्रतीत होती है उसी प्रकार आत्मा में यह विश्व प्रतीत होता है और प्रतीति अनुभव से भिन्न नहीं इस प्रकार यहां तक जो प्रवृत्त हुआ है सर्वदा एक अखंड सत्ता परमात्म तत्व है जैसे आकाश में आकाश स्थित है उसी प्रकार ब्रह्म सत्ता अपने आप में स्थित है। द्वैत कल्पना कुछ नहीं जैसे अग्नि से गर्मी और बर्फ से सफेदी और शक्कर से मिठास और सूर्य से प्रकाश पृथक नहीं उसी प्रकार ब्रह्म से अनुभव भिन्न नहीं तत्व रूप है दूसरी वस्तु कुछ नहीं। अभिन्नता अर्थात् एकता भी तब होती है जब वही रूप हो अर्थात् जो सजातीय होता है उसी की एकता होती है विजातीय की एकता नहीं होती अतः जगत जीव ब्रह्म अपने अनुभव से भिन्न

नहीं एवं अभिन्न है और अनुभव आत्मा से भिन्न नहीं जो जगत् आदि अपने आत्मा से कुछ पृथक वस्तु होता तो एकता न होती जैसे दृष्टा दर्शन तथा दृश्य एवं कर्ता कर्म तथा क्रिया यह तीनों जीव रूप हैं और जीव आत्मा रूप है और आत्मा ब्रह्म रूप है इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप है जो सर्वव्यापी सर्वगत् और जो सबको धारण कर रहा है सर्व वही है और वही मैं हूं। ऐसा मेरा अपना अनुभव है ब्रह्म भावना से सर्व अपना ही स्वरूप प्रतीत होता है यह भाव उसी को ज्ञात होता है जो अपने स्वरूप में जाग्रत हुआ है जो कि परम शुद्ध त्रिगुणातीत शान्त स्वरूप मौन रूप से विराजमान हैं जो जिज्ञासु अहं और त्वं के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर प्रयत्न नहीं करते वह मनुष्य लक्ष्यार्थ जान नहीं पाते अज्ञानी हैं। जिन विवेकी मनुष्यों ने अपने में ही स्थिति पाई है अर्थात् जिन का मन अपने स्वयं प्रकाश ज्योति स्वरूप अनुभव सत्ता में ठहर गया है उनको मोक्ष की इच्छा नहीं रहती तो स्वर्ग आदि की कामना कैसे हो? मोक्ष और स्वर्ग आदि स्वरूप तथा अनुभव में रज्जु में सर्प के समान मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं। क्योंकि उनको केवल अद्वैत नित्य आनन्द आत्मा का निश्चय

होता है ऐसे पुरुषों की सत्संगति से अपवित्र अर्थात् दे
अभिमानी पुरुष भी पवित्र हो जाता है क्योंकि उसने
आत्म रूपी तीर्थ का स्नान किया है जो अपवित्रों को
पवित्र कर देता है।

प्रश्न ६९—जब एक ही अद्वैत ब्रह्म अपने आप में स्थित है तो उसने त्रिपुटि को क्यों धारण किया ?

उत्तर—देखो ध्याता, ध्यान और ध्येय यह तीनों एक रूप हैं यह तीन नहीं ध्याता जब आपको भूल कर केवल अपने विशेषणों का चिन्तन करता है तब आपको उन विशेषणों से भिन्न प्रतीत करता है और जब उन विशेषणों को अपनी कल्पना निश्चय करके आपको सत् स्वरूप देखता है तब त्रिपुटी के भेद से रहित होकर अद्वैत रूप होता है ध्याता के बिना ध्येय का स्वरूप और कोई नहीं जैसे बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब का स्वरूप और कोई नहीं बिम्ब ही प्रतिबिम्ब रूप है उसी प्रकार ध्याता ही ध्येय रूप है तात्पर्य यह है कि ध्यान के द्वारा एक ही वस्तु दो रूप प्रतीत होती हैं जैसे दर्पण करके एक ही वस्तु दो रूप प्रतीत होती हैं द्वैत का सर्वदा अभाव है। ध्यान एक वृत्ति है ध्याता वृत्ति को धारने वाला है और ध्येय वृत्ति का विषय है इससे एक ही वृत्ति त्रिपुटी

रूप होकर स्थित है वह वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है जब सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण लीन होजाता है तब वृत्ति भी त्रिपुटी सहित लीन होजाती है यानी सब त्रिपुटियां अभेद रूप हो जाती हैं किंचित् मात्र भी ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता इससे सिद्ध हुआ कि ध्याता और ध्येय दोनों एक रूप हैं और ध्यान इन दोनों का साधक है क्योंकि ध्यान के सहारे ध्याता और ध्येय दोनों सिद्ध होते हैं ध्यान से इतर ध्याता और ध्येय का स्वरूप कुछ नहीं अतः ध्याता और ध्येय केवल ध्यान रूप हैं और ध्यान वृत्ति रूप है और वह वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम है और अन्तःकरण पांच तत्वों के सतोगुण का अंश है और सतोगुण का स्वरूप केवल ज्ञान है इस से सिद्ध हुआ कि ध्यान केवल ज्ञान रूप है। वह ज्ञान ही ध्याता तथा ध्येय रूप होकर स्थित है अतः वह ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है अथवा ब्रह्म ही ज्ञान स्वरूप है इससे ब्रह्म ही ध्याता तथा ध्येय स्वरूप होकर स्थित है ब्रह्म से इतर ध्याता तथा ध्येय का स्वरूप कुछ नहीं इस रीति से अद्वैत ब्रह्म आप में आप स्थित है।

प्रश्न ७०—स्वप्न में हम अपने को जाग्रत के समान क्यों देखते हैं और वह पदार्थ सच्चे क्यों प्रतीत होते हैं ?

उत्तर—स्वप्न में हमारी आकृति जाग्रत की स्थूल आकृति के समान उत्पन्न होती है तब निद्रा के कारण हमारा सम्बन्ध उस आकृति से अभेद बोधक होता है इसी कारण से सोता हुआ मनुष्य अपने आपको जागता हुआ सा जानता है वास्तव में निद्रा बाह्य इन्द्रियों की एक प्रकार की निवृत्ति है और बाह्य जाग्रत की आकृति गुण है और जाग्रत अवस्था इन्द्रियों की प्रवृत्ति है जो असली आकृति का गुण है किन्तु स्वप्न काल में आत्मा का कल्पित सम्बन्ध स्वप्न शरीर की इन्द्रियों से होता है इसलिये उसके गुण अपने गुण कल्पित कर लेता है। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार स्वप्न में तुमको स्वप्न आकृति अर्थात् स्वप्न के शरीर से कल्पित सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार जाग्रत काल में व्यक्तिगत अन्तःकरण से अन्तःकरण की परिच्छिन्नता के कारण कल्पित सम्बन्ध होकर तुमको जीवोऽहं, दासोऽहं अर्थात् परिच्छिन्नता का भ्रम होता है और जब तुम व्यष्टिगत अन्तःकरण के सम्बन्ध का त्याग जाते हो और समष्टि अन्तःकरण अर्थात् हिरण्य गर्भ रूप से अभिमानी होते हो तो उस दशा में समष्टि अन्तःकरण से कल्पित सम्बन्ध होता है इसी कारण वहां शिव

का भी भ्रम होता है क्योंकि व्यष्टिगत् और समष्टिगत् अन्तःकरण तथा जाग्रत व स्वप्न की कल्पित् आकृतियों का परस्पर कल्पित् सम्बन्ध है असली नहीं इसलिये वास्तव में अहं का लक्ष्यार्थ ज्ञान स्वरूप आत्मा है जो दोनों सम्बन्धों से अर्थात् व्यष्टि एवं समष्टि से रहित परम शुद्ध है। यही कारण है कि जब बोधवान् वास्तविक अवस्था को जानते हैं अर्थात् उस अवस्था को प्राप्त होते हैं तो आत्माहं ज्ञानोहं अहंब्रह्मास्मि आदि का निश्चय करते हैं। उदाहरण—जैसे भ्रमकाल में रस्सी के सर्प से सर्प की कल्पना करके कि यह ठीक सर्प है संकल्प का ही कारण है वास्तव में ठीक लक्ष्य वहां रस्सी है तो भी भ्रम से यह सर्प है ऐसा निश्चय होता है इसी प्रकार अहं का लक्ष्यार्थ वास्तव में ज्ञान किंवां ब्रह्म है जो परंतत्व गम्भीर निश्चल तथा शान्त रूप है तथापि व्यष्टि समष्टि उपाधियों में उपाधिमान निश्चय होता है।

जाग्रत तथा स्वप्न संसार दोनों ही उस उपाधिमान का संकल्प है जो कि ज्ञान स्वरूप है अर्थात् तरङ्ग का स्फुरना है किन्तु कुछ में सत्यता और कुछ में असत्यता का भ्रम होता है अतः चाहे जाग्रत हो और चाहे स्वप्न जगत् हो विचार दृष्टि से तो सर्व ही नाम रूपात्मक

प्रपंच भ्रम मात्र है अर्थात् ख्यालमात्र है तथापि निरुपाधि बोध स्वरूप के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं है वह अनुभव रूप है। जो कुछ भी दीखता है सब ज्ञान आकृतियां हैं। अर्थात् तरङ्ग हैं और ज्ञान आकृतियां वास्तव में ज्ञान स्वरूप हैं अतः सृष्टि ठीक सृष्टा है। और सृष्टा ठीक सृष्टि है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्व का अधिष्ठान सर्व शक्तिमान परंतत्व अद्वैत रूप है वह विद्यमान है और सम्पूर्ण नाम रूपात्मक् प्रपंच दृष्टिगोचर होता है यह सब ज्ञान की आकृतियां हैं अर्थात् उसकी स्फुरणता हैं किंवा चमचमाहट है उस बोध में ऐसे ही दीखते हैं जैसे आकाश में नीलता और जल में लहर उसी प्रकार परंतत्व में विश्व प्रतीत होता है।

उस परंतत्व या भगवद्ज्ञान की दो अवस्थायें या दो विभूतियां हैं एक वह है कि जिसमें ज्ञान आकृतियां अर्थात् नाम रूप की तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और दूसरी वह है कि जिसमें सम्पूर्ण आकृतियों का अभाव किंवा लोप हो जाता है। इसलिये प्रथम अवस्था को संसार में सगुण अवस्था वा विभूति नाम से कहने लगते हैं और दूसरी को निर्गुण तथा निराकार। जब बोधवान् जगत में नाम रूप प्रपंच प्रत्यक्ष संसार को देखता है तो सगुण

ब्रह्म का दर्शन करता है अर्थात् विराट भगवान का दर्शन करता है और जब बाहर से उपराम होता है उस काल में यम नियम के द्वारा आसन लगाकर तथा शरीर को सीधा करके वा चक्षुओं को बन्द कर प्राण अपान और मन की गति को रोककर समाधि के द्वारा उस परमात्मा की सम्पूर्ण ज्ञान आकृतियों का लोप करके देखता है तब उस समय निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ऐसे बोधवान को प्रत्येक दशा में भगवान का दर्शन प्राप्त होता है सो बोधवान शरीर सम्बन्ध काल पर्यन्त अनेक बार ऐसी अवस्थाओं का अनुभव करता है और अभ्यास की प्रबलता तथा आनन्द की वृद्धि कर बारम्बार अपनी अवस्था में लीन रहने का प्रयत्न करता हुआ लीन होता है और फिर कभी २ शरीर के सम्बन्ध करके वासनाओं की प्रबलता से इन्द्रियों के कार्यों में प्रवृत्त होता है और पुनः इन्द्रियों के व्यवहारों को समाप्त कर और अन्तःकरण से अगोचर होकर अपने कूटस्थ वा साक्षी तथा निर्वाण स्वरूप प्रत्यक् आत्मा में डुबकी लगाता है कभी बाहर आता है और कभी अन्दर जाता है तात्पर्य यह है कि अपनी स्फुरण शक्ति तथा अन्तःकरण प्राण इन्द्रिय सहित होकर अपने प्रत्यक्

आत्मा का विराट रूप से दर्शन करता है अर्थात् ई
समुदाय सहित होता है और कभी सत्ता सामान्य भा
से स्थित होकर इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण से अं
चर होता है परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में अपने वास्त
विक स्वरूप को नहीं त्यागता नित्य अपने कूटस्थ स्व
रूप में स्थित रहता है ऐसी अवस्था का अनुभव कर
वाला विवेकीजन संसार में पूज्य है इस प्रकार का अं
ही वस्तु की प्राप्ति अथवा परमानन्द दर्शन है इसी
ब्रह्मानन्द अगोचर निर्वाण पद कहते हैं तथा यह
विदेह मोक्ष है।

प्रश्न ७१—परमात्मा को जगत का कार
मानना ठीक है वा नहीं ?

उत्तर—जब आत्मा या ब्रह्म अनन्त अ
अव्यक्त और अद्वैत है उसको देश काल और व
का परिच्छेद नहीं होता जो सर्व देश सर्वकाल औ
सर्व वस्तु में परिपूर्ण है वह कारण कार्य किसका
कारण जब होता है जब प्रथम द्वैत हो सो आत्मा
अद्वैत रूप है और कारण उसको कहते हैं जो कार्य
प्रथम सिद्ध हो और पश्चात् भी सिद्ध हो जैसे घड़े
आदि भी मिट्टी है और अन्त भी मिट्टी है यह कार्य

कहलाता है परन्तु आत्मा में न उदय है न अस्त है। आत्मा तो आदि मध्य अन्त से रहित है, ज्यों का त्यों स्थित है। कारण जब होता है जब परिणामी हो सो आत्मा अच्युत है अपने स्वरूप से कभी नहीं गिरता और भोक्ताभाव भी द्वैत में बनता है। आत्मा अद्वैत रूप है भोग और भोक्ता दोनों नहीं और आत्मा में कर्म भी नहीं क्योंकि कर्म इन्द्रियों का विषय है सो आत्मा अव्यक्त है अर्थात् व्यक्त भाव से रहित है। जो कार्य होता है उसका कारण भी अवश्य होता है सो आत्मा सबका आदि है उसका कारण कोई नहीं अतः आत्मा अद्वैत रूप है न किसी का कारण है और न कार्य है अनुभव रूप है सो मैं हूं मैं नहीं और मैं ही हूं यह मैंने जाना मेरा मुझको नमस्कार है। उदार चित्त वालों की सर्वत्र आत्म बुद्धि होती है यदि तुम यह कहो कि जगत का कारण परमात्मा नहीं तो कौन है इसका उत्तर यह है कि कारण से कार्य होता है अहंभाव से संसार का अंकुर निकलता है अर्थात् देहाभिमान करके राग द्वेष रूपी वासनायें उत्पन्न होती हैं इसलिये यह अहंभाव ही महा दोष युक्त है और इसका कारण चित्त का फुरना है इसी चित्त के फुरने से अर्थात् मनोराज्य करने से बिना विचारे

कारण कार्य भाव प्रतीत होते हैं ।

चित्त के नष्ट होने पर कारण कार्य भाव जाते रहते हैं जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से जाड़ा भाग जाता है उसी प्रकार अध्यात्म अर्थात् वेदान्त शास्त्र के विचार और अभ्यास से अज्ञान भाग जाता है यदि इस शरीर अथवा संसार का कारण ईश्वर को मानोगे तो वह प्रत्यक्ष नहीं और जो प्रत्यक्ष नहीं तो उसका अभाव हुआ और जो कारण होता है वह कार्य्य का बीज होता है और वह कार्य के साथ सदा ही रहता है जैसे घट आदिकों के साथ मृतिका । शरीर का जो कारण है वह अनित्य है अतः उसका कार्य शरीर आदि भी अनित्य है और जो ब्रह्म नाम से वर्णन किया गया है वह भी कथन मात्र है शरीर के समान अनित्य होने से विनाशी है शरीर किंवा जगत् का कारण दूसरा ही है । अविद्या तथा अज्ञान वह अज्ञान ज्ञान करके नाश को प्राप्त होता है अतः न सृष्टि है और न कोई सृष्टा है । कारण के अभाव से कर्त्ता का भी अभाव हो जाता है और कर्ता के अभाव से जगत नहीं रहता । यदि कहो कि यह जगत किस करके दीखता है और इन पदार्थों का कौन अव-लोकन करता है इसका उत्तर यह है कि जैसे बालक

के घूमने से पर्वत मकान तथा वृक्ष आदि पदार्थ घूमते प्रतीत होते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जीवों को यह आधि-भौतिक जगत प्रतीत होता है। आंख होती है तो रूप को देखती है और जो आंख इन्द्रिय नहीं होती तो रूप को नहीं देखती इसी प्रकार सब इन्द्रियों के विषय में जानो और यह इन्द्रियां मन के आधीन हैं और मन किंवा चित्त स्वरूप से कुछ नहीं अतः न चित्त है न चित्त का बीज है और न अहंकार ही है। जब जगत का कारण ही नहीं तो जगत् कहां से आया अर्थात् जहां अहं और त्वं नहीं वहां जगत् ही नहीं मैं ऐसा हूं, वैसा हूं ऐसा अपने को समझना ही दुःखों का कारण है मैं ऐसा वैसा कोई नहीं ऐसा संकल्प करना ही मोक्ष का हेतु है। मेरे इस सिद्धान्त को बोधवान जानते हैं अबोध वान नहीं जानते जितना कुछ आधिभौतिक जगत् दीखता है सो अप्रत्यक्ष है और आत्मा अर्थात् अपना आप सदा प्रत्यक्ष है इस लोक तथा परलोक का अर्थ है वह अनुभव से सिद्ध होता है क्योंकि सब के आदि में अनुभव प्रत्यक्ष है अर्थात् आत्म सत्ता उसको त्याग कर जो शरीर आदि दृश्य को अपना आप जानते हैं और उनको प्रत्यक्ष मानते हैं वह मनुष्य मूर्ख हैं अर्थात् समझ नहीं

रखते इसी से पत्थर की शिला के समान हैं किंवा सूखे घास के समान हैं ज्ञान दृष्टि करके देखो तो एक ही अद्वैत आत्म सत्ता विराजमान है और कुछ नहीं बना अर्थात् द्वैत भेद कुछ नहीं और चित्त दृष्टि करके देखो अर्थात् संकल्प विकल्प करके देखो तो अनेक सृष्टि दीखती हैं और कुम्हार की नाईं कर्त्ता का भी अनुमान होता दीखता है चरम दृष्टि करके देखो तो सृष्टि मनुष्य आदि कृत करके दीखती है अर्थात् देह दृष्टि करके यह दृष्टि नास्तिक भोगी विलासी विकर्मी मनुष्यों की होती है उनका अन्तःकरण जड़ी भूत होता है इसी कारण से ईश्वर कृत नहीं दीखती।

नोट—जिज्ञासु को सृष्टिकर्ता ईश्वर प्रतीत होता है और बोधवान् को जगत् और ईश्वर दोनों अभिन्न प्रतीत होते हैं क्योंकि सृष्टि का सृष्टित्व उसी समय तक रहता है जब तक करने कराने का भूत सिर पर होता है, किंवा जब तक कामना की निवृत्ति नहीं होती ईश्वर का ईश्वरत्व भी जब तक ही है कि जब तक कामना करके कर्मों का फल चाहता है यथार्थ बोध होने पर जीव का जीवत्व (अहंकार) भाव मिट कर तथा ईश्वर का फलदाता भाव मिट कर एक अद्वैत सत्ता शेष रहती है जो अपना सहज स्वरूप है।

प्रश्न ७२—जगत् और जगत् के कर्ता को अस्वीकार करने से तो नास्तिकता के भाव आजाते हैं ?

उत्तर—नास्तिकता के भाव प्रगट नहीं होते बल्कि सच्ची आस्तिकता के भाव प्रगट होते हैं। जिस का किसी काल में भी अस्तित्व न हो उसको स्वीकार कर लेना और उसी के ऊपर निर्भर रहना ही नास्तिकता है जब तक मनुष्य अज्ञान की निद्रा में सोया हुआ है तब तक जो पदार्थ इस जगत् के हैं वही सच्चे प्रतीत होते हैं। स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थ हैं और नर्क आदि अनिष्ट पदार्थ हैं और उनकी प्राप्ति का साधन धर्म अधर्म शुभ तथा अशुभ कर्म हैं। धर्म सुख का साधन है और अधर्म नर्क के दुखों का कारण है ऐसा मानने वाले मनुष्यों को समझो कि यह अज्ञान रूपी निद्रा में सोया हुआ है। क्योंकि उनको यथार्थ जानता है परन्तु जब मोह रूपी निद्रा से जाग्रत होगा एवं यथार्थ बोध होगा उस काल में सम्पूर्ण जगत् आत्म रूप से प्रतीत होगा कारण सम्पूर्ण जगत् अनुभव रूप है और अनुभव सदा जाग्रत ज्योति है अर्थात् साक्षी रूप है जिन मनुष्यों ने इस अनुभव सत्ता का अनुभव नहीं किया वे विचारे दीन हैं यथार्थ पशु हैं क्यों कि आत्म बोध रहित हैं।

और सदा जो पास है उस आत्मा को नहीं जानते इसी से वह उन्मत्त की तरह अन्यथा प्रलाप करते हैं क्योंकि सिड्डी बावले मनुष्य को अपना आपा विस्मरण हो जाता है जैसे किसी को भूत का आवेश हो जाय तो उसको अपना आपा विस्मरण हो जाता है और भूत ही शरीर में घुसकर बकवाता है इसी प्रकार अज्ञानी अर्थात् बुद्धि हीन मनुष्यों को अज्ञान रूपी भूत लगा है इस कारण वह पागल हैं, अन्यथा प्रलाप करते हैं अपने आत्म स्वरूप को नहीं जानते उल्टी बुद्धि से शरीर आदि अनात्म पदार्थ का आत्मा जानते हैं और उल्टा शब्द करते हैं और जब किसी पुण्य के प्रताप से बोध दृष्टि खुलती है उस दशा में सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप से दृष्टिगत होने लगता है। और संकल्प दृष्टि से देखें तो सम्पूर्ण जगत् पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारे, पाताल आदि दृष्टि गोचर होते हैं तथा नाना रूप से प्रतीत होते हैं जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है यदि संकल्प दृष्टि को हटाकर यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो सृष्टि का सर्वथा अभाव है अर्थात् न सृष्टि है और न सृष्टा है वरन् एक नित्य सत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है। देहाभिमान की स्थिति सर्व प्रकार से त्याग

करनी चाहिये क्योंकि जैसे उत्तम कुल के मनुष्य चांडाल की स्त्री से कदापि स्पर्श नहीं करते। न कोई कर्ता है और न कर्ता का कोई कर्म है और मैं भी कोई नहीं इस प्रकार और भी कोई नहीं दृष्टि करके कर्ता कौन है, मैं कौन हूं तथा वह कौन है सब परं ब्रह्म रूप करके ज्ञात होता है अर्थात् सच्चिदानन्द रूप हूं ऐसा निश्चय करके सबसे उत्तम पद में स्थित होते हैं। उत्तम बुद्धि वाले साधु जनों की यह स्थिति है किंवा जैसे चैतन्य रुप आत्मा का और जीव का भेद नहीं अर्थात् अभेद रूप है उसी प्रकार चित्त का और जीव का भेद नहीं है और जैसे चित्त का और जीव का भेद नहीं अर्थात् अभेद रूप है उसी प्रकार शरीर का और कर्म का भेद नहीं। जैसे कर्म का और शरीर का अभेद है उसी प्रकार शरीर का और जगत् का भेद नहीं। जब कर्म ही देह है (हाड मांस वाला शरीर नहीं) और कर्म ही चित्त है और चित्त ही जीव है और जीव ही ईश्वर है और ईश्वर ही आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म अद्वैत् रूप सर्व व्यापी शिव है जो शून्य वादियों का शून्य है ब्रह्म वेत्ता पुरुषों का ब्रह्म है और विज्ञान वादियों का विज्ञान है तथा सांख्य वादियों का पुरुष है योग वालों का ईश्वर

है और अद्वैत् वादियों का अद्वैत् शिव है प्रेमियों का प्रेम पात्र वह ही है कर्म काण्डियों का फल प्रदाता है काल वादियों का काल है आत्म वादियों का आत्मा है और जो अनात्म वादियों का अनात्मा है और मध्यम वादियों का मध्यम तथा प्रारब्ध वादियों का दैव है और समचित्त वालों का समरूप है जो सर्व शास्त्रों का सिद्धान्त है वही सर्व रूप है। त्रिपुटि रूप भी वही है तथा एक रूप होकर भी अनेक है और जो अनेक रूप होकर भी एक है न एक रूप है न अनेक रूप है वरन् सर्व रूप है और सर्व से शून्य है। जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वास्तव में कुछ नहीं जन्म से रहित है, एक है, शुद्ध है, कला सहित है व कला रहित है अतः न कोई कर्ता है न कर्म है एक तथा दो से रहित आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जब रस्सी का यथार्थ ज्ञान होता है तब सर्प भावना मिट जाती है उसी प्रकार तत्व बोध होने पर शरीर तथा जगत् की भावना मिट जाती है अर्थात् जगत् कहां है तथा शरीर की सत्ता कहां है? दोनों का अभाव ही है इसी कारण जगत् के कर्ता का अभाव है। बोध होने पर केवल अद्वैत आत्मसत्ता अनुभव होती है और यह स्थूल जगत संकल्प दृष्टि से

संकल्प रूप प्रतीत होता है यह स्थूल भाव अबोध के कारण तथा बारम्बार स्थूल के चिन्तन करने से होता है जैसे जल दृढ़ जड़ता से बर्फ रूप हो जाता है उसी प्रकार प्रमाद वश संकल्प के अभ्यास से कर्त्ता कर्म तथा क्रिया प्रतीत होती है। जब तुम बोध में जाग्रत होगे उस दशा में आदि, मध्य तथा अन्त के विभाग से रहित अखंड रूप एक आत्म सत्ता ज्यों की त्यों अनुभूत होगी अज्ञान से जिज्ञासुओं के उपदेश के निमित्त द्वैतवाद कल्पा है बोध होने से द्वैत भेद कुछ नहीं रहता। वाच्य वाचक भाव द्वैत बिना सिद्ध नहीं होता जब बोध होता है तब वाच्य का मौन होता है इससे तुम महा वाक्य में निष्ठा करो और जो कुछ कल्पना मन ने रची है उसकी निवृत्ति के अर्थ मेरे लेख में विश्वास करो।

प्रश्न ७३—तत्ववेत्ता को संसार की आकृतियां दिखाई देती हैं अथवा नहीं और जगत के नाश की संभावना होती है या नहीं और वह सृष्टि के कर्ता को मानता है अथवा नहीं ?

उत्तर—यह कभी ध्यान में नहीं लाना चाहिये कि बोधवान को नाम रूपात्मक प्रपंच सर्वथा दीखता ही नहीं वरन सम्पूर्ण नाम रूप वाला जगत अर्थात प्रपंच

की आकृतियां उलटेपन के विचारों की दशा में (वैराग्य के कारण) अर्थात् उसके ज्ञान में छाया के रूप में दिखाई देती हैं जैसे दर्पण में अपना मुख उलटा दिखाई देता है तथापि देखने वाला उसको जैसा है वैसा ही जानता है अर्थात् मुख को यथार्थ में पूर्व की ओर ही जानता है यद्यपि दर्पण के उलटेपन के गुण से वह पश्चिम की ओर दिखाई देता है इसी प्रकार शरीर सहित संसार बोधवान् की दृष्टि में सम्पूर्ण संसार चित्रवत् किंवा स्वप्न संसार हो जाता है और उसका उसकी तरफ ध्यान तक नहीं जाता जिस प्रकार दर्पण में चित्र दीखते हुए भी मिथ्या हैं इसी प्रकार संसार की आकृतियां उसके आत्म रूपी दर्पण में मिथ्या हो जाती हैं आप ही सबका दर्पण किंवा प्रगट स्थान अर्थात् प्रगट कर्ता होता है सबसे विचित्र रहस्य तो यह है कि यथार्थ में ज्ञान स्वरूप परमात्मा ही स्वयं प्रत्येक आकार में विभूतिमान दिखाई दे रहा है किन्तु भ्रम यह होता है कि प्रथम वस्तु नाश हुई और दूसरी नवीन वस्तु उत्पन्न हुई यद्यपि वह एक ही वस्तु प्रत्येक नवीन विभूति में विभूतिमान और प्रत्येक नवीन अवस्था में प्रकाशमान होती है यह भूल विशेषकर बुद्धि की है क्योंकि बुद्धि ने सदा

तथा चित्र आदि को रचित और बनावटी समझा है। बुद्धि ने घड़ा को कुम्हार के द्वारा तथा चित्र को चित्रकार के द्वारा बना हुआ समझा अर्थात् बुद्धि ने देखा है इस कारण उसने अनुमान कर लिया कि यह बाहर तथा भीतर की वस्तुयें भी इसी प्रकार बनी हैं और बनावटी हैं तथा इनका कोई सृष्टा व बनाने वाला अवश्य है अतः उसने जगत को भी रचित और सृजित समझ लिया और इसी कारण जगत से बाहर अर्थात् पृथक किसी सृष्टा की कल्पना करली वेदान्ताचार्यों का तो यह कथन है कि वास्तव में न जगत है और न जगत का बनाने वाला है बल्कि एक ही वस्तु प्रत्येक नाम रूप में प्रकाशमान हो रही है और नाम रूप के बदलने पर यह सृष्टि है और यह सृष्टा है इस प्रकार मानना नास्तिकता है अर्थात् मूर्खता है क्योंकि द्वैत का प्रतिपादन करना समझदार मनुष्य का काम नहीं यदि कोई मनुष्य बैठा हो और वह खड़ा हो जाय तो उसकी यह महिमा नई हुई यथार्थ में उस मनुष्य के शरीर की यह दो अवस्था हुईं इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप परमात्मा की भी दो विभूति हैं व्यक्त और अव्यक्त अर्थात् साकार तथा निराकार किंवा सृष्टि और प्रलय यह दो अव-

स्थायें हैं और प्रत्येक विभूति नई और एक के पश्चात् दूसरी नाम रूप के आकार में बदलती हुई प्रतीत होती है पर वास्तव में न कुछ सृष्टि है और न सृष्टा भाव है केवल एक सत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है।

यह प्रत्यक्ष दीखता हुआ नाम रूप वाला जगत जिस ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में स्फुरित होता है यह दो अवस्थायें किंवा दो विभूतियां हैं एक साकार दूसरी निराकार प्रथम को साकार अर्थात् व्यक्त और दूसरी को निराकार अर्थात् अव्यक्त इनमें जो परंतत्व है उससे यह दोनों विभूतियां भिन्न नहीं विचार की दृष्टि से देखो तो सुगमता से ज्ञात हो जायगा कि प्रत्येक वस्तु उस एक ही परंतत्व से परस्पर सम्बन्ध रखती हैं और उस परंतत्व पर उपाधि का परिवर्तन अर्थात् बदलना केवल देखने मात्र है क्योंकि यह घटना स्वतः सिद्ध है किंवा सबके अनुभव में आरही है कि जल वायु रूप हो जाता है और वायु जल रूप हो जाती है और जल अग्नि रूप होजाता है और अग्नि जल रूप हो जाती है और जल पृथ्वी रूप हो जाता है और पृथ्वी ही सम्पूर्ण ब्रह्मांड रूप से दिखाई देने लगती है यही उस परंतत्व की साकार अवस्था है अर्थात् व्यक्त अवस्था है और जब यह तत्व

अपने २ कारण में विलीन होते हैं अर्थात् परंतत्व में समा जाते हैं वह उस परंतत्व की निराकार अवस्था है अर्थात् अव्यक्त। इसका अनुभव अनुभवी लोग समाधि अवस्था में करते हैं जबकि सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है इसमें सन्देह नहीं कि जब वायु का रूप अग्नि रूप में और अग्नि का जल रूप में बदलता है तो वही एक अधिष्ठान् जो पहले वायु रूप का वस्त्र धारण किये था वही अब अग्नि रूप के वस्त्र को धारण किये हुए दिखाई देता है परन्तु जो मनुष्य सूक्ष्म दृष्टि नहीं रखते अज्ञानी अर्थात् जिन को स्थूल वस्तुओं पर ही विश्वास है अर्थात् स्थूल दृष्टि वाले अज्ञानी इस परि-वर्तन से उनको यह भ्रम होता है कि वायु का नाश होगया। और अग्नि का रूप नया उत्पन्न हो गया यह घटना केवल वायु तथा अग्नि के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् और तत्वों के विषय में भी जान लेनी चाहिये इसी कारण तत्व वेत्ताओं ने इन तत्वों का मूल एक परंतत्व माना है। यह शंका कभी नहीं करनी चाहिये कि वेद ने तो सृष्टि का प्रतिपादन किया है और उसके कर्ता का भी निरूपण किया है आपके वचन से तो वेद भगवान् के [illegible] हो जायेंगे इसका उत्तर यह है कि वेद

भगवान का तात्पर्य सृष्टि के प्रतिपादन में कदापि नहीं है किन्तु अद्वैत बोधन में है सम्पूर्ण पदार्थ जो परमात्मा से उत्पन्न होते हैं सो वह उत्पन्न हुए पदार्थ ब्रह्म का विवृत हैं जो जिसका विवृत होता है वह उसका ही स्वरूप होता है जैसे स्वर्ण के भूषण स्वर्ण में अध्यस्त होने से पृथक नहीं ऐसे ही यह जगत् ब्रह्म में अध्यस्त होने से ब्रह्म से पृथक् नहीं ब्रह्म रूप ही है इस अर्थ को जानने के लिये सृष्टि का वेद में कथन है सृष्टि के कथन का दूसरा कोई प्रयोजन नहीं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल आदि का जो क्रम से कथन किया है वह स्थूल दृष्टि वाले को विपरीत क्रम से लय चिन्तन के निमित्त है उसका भी अद्वैत बोधन में ही तात्पर्य है क्रम कथन में तात्पर्य नहीं। सृष्टि में क्रम नहीं है किन्तु सर्व पदार्थ एक अविद्या से उत्पन्न होते हैं अर्थात् मन के फुरने से हुए हैं उनका परस्पर कार्य कारण तथा पूर्व उत्तर भाव अज्ञान कृत स्वप्न की तरह मिथ्या है इससे जाग्रत के सर्व पदार्थ परस्पर कार्य कारण भाव नहीं वरन् एक परंतत्व ही हैं। अबोधवान् को रस्सी में सर्प की भावना की तरह जगत की भावना हुई है बोधवान् को न तो जगत की उत्पत्ति की सम्भावना

होती है और न नाश की वरन् उत्पत्ति तथा नाश से रहित एक अद्वैत तत्व आपमें आप स्थित है जो सबका अपना आप है।

प्रश्न ७४—बोधवान को संसार की प्रतीति अप्रतीति किस प्रकार होती है ?

उत्तर—संसार की प्रतीति तथा अप्रतीति का तात्पर्य यह है कि जब संसार को देखना चाहता है उस समय सगुण शक्तियों को धारण करके संसार को स्वप्न के समान आनन्द रूप जानकर प्रतीत कर लेता है और जिस समय परमात्मा की निर्गुण शक्तियों को धारण करता है उस समय सुषुप्ति के समान संसार की प्रतीति नहीं होती अर्थात् जैसे स्वप्न से जागा हुआ मनुष्य स्वप्न के प्रपंच को नहीं देखता उसी प्रकार स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप आत्मा की निष्ठा को प्राप्त होकर शरीर आदिक प्रपंच को नहीं देखता क्योंकि गुरु तथा शास्त्र के उपदेश से सम्पूर्ण जगत को अपना स्वरूप करके देखता है कारण शोक रूप संसार है। वह सत्ता सामान्य होकर उस परमात्मा की ज्ञान तथा अज्ञान आकृतियों का लोप करके अर्थात् प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण से रहित होकर समाधि द्वारा ब्रह्म से अभिन्न अपने प्रत्यक्

आत्मा का साक्षात्कार करता है अर्थात् अपने निर्वि[illegible] स्वरूप में डुबकी लगाता है। और जब कभी बाहर आ[illegible] है तब उस समय प्रत्यक्ष संसार देखता है अर्थात् सगु[illegible] ब्रह्म का दर्शन करता है। सो बोधवान को प्रत्येक द[illegible] में भगवत् दर्शन होता है अर्थात बोधवान प्रत्येक द[illegible] में (प्रतीत अप्रतीत काल में) अपने आपसे प्रकाशि[illegible] होता है क्योंकि उसको यही निश्चय रहता है कि [illegible] सर्वात्मा सर्वगत ईश्वर सर्वाकार निराकार केवल चिदान[illegible] रूप हूं और सदा अपने आपमें स्थित हूं। बोधवान् को संस[illegible] की प्रतीति अप्रतीति इसी प्रकार हुआ करती है। [illegible] अवस्था में बोधवान की ईश्वर के साथ आनन्द [illegible] मात्र ही समता है और यही उसकी स्वतन्त्रता है [illegible] जब संसार को देखना चाहता है तब देख लेता है [illegible] जब देखना नहीं चाहता उस समय नहीं देखता।

प्रश्न ७५—वेदान्ताचार्यों ने जो यह कहा [illegible] कि हमारे मत में वेद शास्त्र भी ब्रह्म ज्ञान से प्रथम [illegible] सत् माने जाते हैं और उसके पश्चात् वेद शास्त्र [illegible] मिथ्या है इसका अभिप्राय क्या है ?

उत्तर—ऋतंभरा बुद्धि के प्राप्त होने पर [illegible] विद्वान अर्थात् तत्त्ववेत्ता वेद शास्त्र से आगे [illegible]

हैं अर्थात् अवाच्य पद में स्थित होता है बोध के अभाव काल में शरीर आदि के सम्बन्ध से जो जीव में अल्पज्ञता है जिसमें तीन काल प्रतीत होते हैं अर्थात् भूत भविष्यत् तथा वर्तमान इनका जो विषय है वह मिथ्या हैं यह सब उस अल्पज्ञता करके ही प्रतीत होते हैं जोकि माया के आवरण पड़ने से ज्ञान ढक जाता है इस अवस्था में ज्ञान कर्म उपासना विज्ञान वेद शास्त्र जगत् और जगत के पदार्थ अपना शरीर, मन, इन्द्रियें, ईश्वर, जीव, प्रकृति, सुख, तथा दुःख जीवन्मुक्त वा विदेह मुक्त की अवस्था और उसका आनन्द जो कुछ भी सत् प्रतीत होता है वह सब मिथ्या ज्ञान का विषय होने से मिथ्या ही हैं क्योंकि परमार्थ दृष्टि में तो सबका स्वरूप आनन्द ही है जो अनात्म बुद्धि के दूर होने पर ही प्रतीत होता है आशय यह है कि इस अद्वैत आनन्द को जिज्ञासु शरीर आदि से असम्बद्ध होने पर ही अनुभव करता है जो कि यथार्थ बोध का विषय है और जो यथार्थ ज्ञान होने पर ही प्रतीत होता है वही यथार्थ है क्योंकि यथार्थ ज्ञान में मिथ्या ज्ञान का विषय मिथ्या ही होता है जिस प्रकार मिथ्या ज्ञान में अज्ञान रूप माया के आवरण से ही कर्मों की प्रतीति होती है अर्थात् देहाभिमान से मन वाणी तथा

शरीर की क्रियाओं का अभिमान करता है उसी प्रकार यही अज्ञान रूप प्रकृति कर्मों के फल को मूर्तिमान अर्थं शरीर सहित संसार को सची प्रतीति करा देती है और उस अज्ञान रूप प्रकृति के कर्मों की सच्ची मूर्तियां प्रतीत होकर सुख तथा दुख का कारण बन जाती हैं जैसे अंधकार के कारण रस्सी में सर्प भावना करके भय का कारण हो जाती है और विज्ञान से मुक्ति भी इसी प्रकार होती है जैसे स्वप्न में मिथ्या शेर के भय से सच्ची जाग्रति हो जाती है और जिस प्रकार स्वप्न के शेर को स्वप्न के ही दण्डे से मारा जाता है उसी प्रकार यथार्थ बोध होने पर द्वैत भ्रम का नाश हो जाता है और सच्ची जाग्रति होकर एक ब्रह्म रूप ही शेष रहता है जो कि अपना वास्तविक स्वरूप है उस दशा में उसको अद्वैत की ही प्रतीति होती है जिस प्रकार जीव को अपने मन इन्द्रिय और शरीर आदिक अद्वैत रूप होते हैं उसी प्रकार बोधवान को सम्पूर्ण जीव प्रकृति अर्थ सर्व अद्वैत रूप होकर अपना शरीर रूप ही प्रतीत होता है यही असम्प्रज्ञात योग है जिस प्रकार अपना ही शरीर प्रारब्ध कर्मों के अनुसार सुख तथा दुख रूप प्रतीत होता है उसी प्रकार बोधकाल में ... को ... अपना

शरीर रूप संसार आनन्द रूप प्रतीत होता है उसमें जो कोई प्रारब्ध के अच्छे होते हैं अर्थात् अत्यन्त वैराग्य वाले उनको संकल्प आदि की सिद्धि होकर उनसे मत मतान्तर भी प्रचलित होजाते हैं और जिनका प्रारब्ध कुछ मन्द रूप होता है उनको किसी प्रकार की सिद्धि नहीं होती इसी कारण से वह संसार में गुप्त रहते हैं यह सिद्धियें सब प्रारब्ध के अनुसार भोग्य के अर्थ होती हैं उन सिद्धियों का सम्बन्ध अनात्म शरीर आदि से ही होता है स्वरूप से नहीं।

प्रश्न ७६—यह जगत् अज्ञान में प्रतीत होता है और ज्ञान से निवृत्त हो जाता है इसका क्या तात्पर्य है (संसार कुछ हुआ नहीं यह क्या बात है ?)

उत्तर—ब्रह्म का जीव से नित्य सम्बन्ध है किन्तु जीव अपनी अज्ञानता से नहीं जानता और इसी से मिथ्या ज्ञान में जगत् रस्सी में सर्प के समान शोक रूप प्रतीत होकर सुख तथा दुख का कारण हो जाता है। इसी अज्ञानता के कारण जगत् की प्रतीति है और इनमें शोक रूप संसार की मिथ्या प्रतीति की निवृत्ति है और ब्रह्म की प्राप्ति संसार के आनन्द रूप की ही प्राप्ति है आशय यह कि ब्रह्म में संसार की प्रतीति रज्जु सर्पवत् ही है

अर्थात् रज्जु शोक रूप नहीं परन्तु मिथ्या ज्ञान से सर्प के समान शोक रूप हो रही है यह शोक रूप ही संसार है और आनन्द रूप ही ब्रह्म है और यह जो कहा कि संसार कुछ हुआ नहीं इसका अर्थ यह है कि अज्ञानियों को यह जगत् रज्जु में सर्पवत् शोक रूप प्रतीत होता है जैसे रज्जु में तीन काल में भी सर्प नहीं परन्तु वे समझ मनुष्य अर्थात् अज्ञानी सर्प की कल्पना करके दुख पर दुख उठाते हैं यथार्थ में एक अद्वैत सत्ता शान्त रूप ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं जो ब्रह्मवादियों को अनुभव होता है इसी लिये कहा कि जगत् कुछ हुआ नहीं मिथ्या ज्ञान से ही स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीति हुई है इसी प्रकार यह संसार (शोकरूप) अल्पज्ञता के समय में अज्ञानियों को सत् प्रतीत होता है जैसे जागृत अवस्था में ही स्वप्न का संसार और उसके शोक रूप की निवृत्ति होती है उसी प्रकार जीव को जाग्रत के संसार तथा शोक रूप की निवृत्ति यथार्थ बोध जो मुक्त अवस्था है उसी में होती है वेदान्ताचार्यों ने संसार को सत् तथा असत् से विल- क्षण जो कहा है वह यह है कि जैसे स्वप्न अपने काल में सत्य ही होता है और जाग्रत में मिथ्या हो जाता है और जाग्रत में जगत् और जाग्रत् के स्थूल ... प्रतीत

होते हैं और स्वप्न का संसार मिथ्या जान पड़ता है इसी प्रकार जब तक यथार्थ बोध नहीं होता तब तक जाग्रत जगत् सत्य प्रतीत होता है अर्थात् संसारी सुख-दुख, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नर्क आदि सच्चे प्रतीत होते हैं इसलिये अबोध अवस्था में असत्य नहीं कह सकते और जब यथार्थ बोध हो जाता है तो यही संसार आनन्द रूप प्रतीत होता है यही संसार का मिथ्यापन है अर्थात् यही ज्ञान से निवृत्त होना है बस यही शोक रूप संसार अज्ञान दशा में प्रतीत होता है।

प्रश्न ७७—वेदान्त शास्त्र में समस्त कार्य ईश्वर की प्रेरणा से सिद्ध करके पश्चात् वेदादि सब शास्त्रों में प्रवृत होने की आज्ञा क्यों है ?

उत्तर—इसका तात्पर्य यह है कि वेदान्त की सिद्धि जीव के लिये अन्तरङ्ग है और वेद शास्त्रों की सिद्धि संसार में बहिरङ्ग है इसलिये अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग एक नहीं अतः दोनों प्रकार का उपदेश किया गया है जो कि आवश्यक था। मनुस्मृति आदि धर्म शास्त्रों में जो तीन प्रकार से उपदेश किया गया है अर्थात् सात्विक राजस और तामस वह इस प्रयोजन से है कि प्रत्येक स्वभाव वाले मनुष्यों की शास्त्र में प्रवृति हो क्योंकि जो

तामसी स्वभाव वाले मनुष्य हैं वह राजसी और सात्विक विषय को गृहण नहीं कर सकते इसलिये उनको मांस आदि जो अभक्ष्य पदार्थ हैं उनके लिये उपदेश किया गया है कि मांस का यज्ञ में ही विधान है और दूसरे काल में निषेध है। अर्थात् जब यज्ञ आदि करेंगे उस काल में ही उसको गृहण कर सकेंगे और दूसरे काल में पाप समझने के कारण त्याग करेंगे तथा जो रजोगुणी स्वभाव वाले हैं जोकि सात्विक को ग्रहण नहीं कर सकते अर्थात् ब्राह्मण आदि देवताओं की पूजा सेवा तथा सत्कार के भाव के फल को अज्ञानता के कारण नहीं जानते उनको ब्राह्मण आदि की सेवा सत्कार के अर्थ पूजा तथा मृतक श्राद्ध आदि में प्रवृत्त होने की आज्ञा दी गई क्योंकि वह अपने पितृ आदि को पहुंचने और उनकी अच्छी गति होने के प्रलोभन अर्थ ही इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं अन्यथा नहीं क्योंकि जिस कार्य के करने से ब्राह्मण आदि देवताओं का भोजन छाजन आदि से उपकार हो वह उनके लिये धर्म ही है कारण इनकी सेवा करना और उनके वचनों पर विश्वास करना सबके लिये परम धर्म है इसी कारण से मृतक का कर्म एकादश द्वादश तेरहवीं तथा बरसी और मृतक श्राद्ध आदि

सिद्ध किया है दूसरा प्रयोजन कुछ नहीं और जो सतोगुण के अधिक होने से यथार्थ उपदेश को गृहण कर सकते हैं उनको सात्विकी वृत्ति से उपदेश किया है जैसे वेदों का अभ्यास तप, ज्ञान, शुद्धि, इन्द्रियों का निग्रह तथा आत्म चिन्तन आदि करके मोक्ष के मार्गी बनें जिस प्रकार मनुष्य के अन्दर तीन गुण होते हैं (सत्व, रज, तम) और प्रत्येक गुण के अनुसार ही उसका विषय होता है इसी प्रकार शास्त्रों ने प्रत्येक स्वभाव वाले मनुष्य को उपदेश किया है रोचक भयानक और यथार्थ तीन प्रकार का उपदेश शास्त्रों ने इसी कारण से किया है इससे यह नहीं समझ बैठना चाहिये कि रोचक और भयानक उपदेश मिथ्या है केवल शास्त्रों में प्रवृत्त होने के लिये ही ऐसा कथन है परन्तु ऐसा होता नहीं यह बात नहीं बल्कि जैसा ऋषियों का कथन है उसके अनुसार ही होता है हमारे लिखने का केवल यह अभिप्राय है कि शास्त्रों में तीन प्रकार का जो उपदेश है उस से मनुष्य शास्त्रों में प्रवृत्त हों परन्तु तीनों प्रकार का उपदेश सत् ही है और यथार्थ लिखने का यह कारण है कि वह करना ही चाहिये कि धर्म के कार्य में प्रवृत्त होना तथा उसका महात्म और अधर्म के कामों में प्रवृत्त

होना निकृष्ट योनियों को प्राप्त होना जैसाकि मनुआदि महर्षियों का कथन है यथार्थ ही है। वास्तविक यह सब मनुष्य के ज्ञान अर्थ ही है जिससे मानव जाति इस प्रकार अधर्म से निवृत्त होकर धर्म के कार्य्य में प्रवृत्त हो और उसके द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके कल्याण को प्राप्त हो जाय (मनोनाश्वासमात्त्य) इसी कारण से वाममार्गियों के तन्त्र ग्रन्थादि में तामसी उपदेश की शाखा है उसी स्वभाव के मनुष्यों के लिये है। और जो पुराण आदि हैं वह उन मनुष्यों के लिये हैं जो रजोगुणी हैं और जो वेद शास्त्र तथा उपनिषदादि ग्रन्थ हैं जिनमें यथार्थ उपदेश है वह सात्विक वृत्ति के उपदेश की शाखा है वह उसी स्वभाव के मनुष्यों के लिये है। इसी प्रकार क़ुरान, बाईबिल, बौद्ध, जैन आदि जितने सम्प्रदाय पृथ्वी पर हैं प्रत्येक का विषय भिन्न होने के कारण प्रत्येक को परमात्मा की ओर से पृथक २ उपदेश है। यह ईश्वर की गति और उसकी प्रेरकता सब जीवों के प्रारब्ध भोग के अनुसार ही है अर्थात् जो जैसा अधिकारी है उसको वैसा ही परमात्मा की ओर से उपदेश किया गया है इसी प्रकार जो मनुष्य वेद शास्त्र को नहीं जानते वह लोग परमेश्वर की उपासना मूर्ति

पूजा आदि से करें और जो वेद शास्त्र को जान सकते हैं वह लोग योगदर्शन आदि धर्म शास्त्रों के द्वारा परमात्मा की उपासना करें किसी का कोई खंडन तथा मंडन न किया करें वर्तमान काल में जो मनुष्य खंडन पर तत्पर हो गये हैं वह संसार की हानि तो करते ही हैं साथ ही साथ आप भी राग द्वेश की अग्नि में भटकते रहते हैं जिससे प्रत्येक मनुष्य को यथार्थ आनन्द की प्राप्ति न होकर अनिष्ट की ही प्राप्ति होती है। इस अद्वैत आत्मदर्शन से रागद्वेश को नष्ट करके सब लोग परस्पर प्रीत पूर्वक वरतें और एक दूसरे के ग्रन्थों के द्वारा सत् तथा असत् का विचार करें उसमें जो जो सत्य हो उसको ग्रहण और जो असत्य हो उसका त्याग कर दें जिससे यथार्थ की प्राप्ति से आनन्द का लाभ हो। *

प्रश्न ७८—उपदेश का अधिकारी कौन है ?

उत्तर—जो पुरुष शान्तिवान् क्षमावान् और

* नोट—जिन मनुष्यों की द्विज संज्ञा न होने के कारण वेदों के पढ़ने का अनधिकार है वह लोग पुराणों के द्वारा परमात्मा की भक्ति किया करें क्योंकि वेदशास्त्र उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र द्विजातियों के लिये हैं इससे भिन्न दूसरे मनुष्यों के लिये परमतत्व पाने को पुराण आदि अथवा नाम मंत्र का जाप किंवा देवताओं के [illegible] के दूर से ही प्रणाम करने का विधान है।

इन्द्रियजीत हो अर्थात् जिसने मन के संकल्प विकल्प को जीत लिया हो और जो तीनों ऐषणाओं से रहित हो तथा जिसने संत सङ्गत द्वारा और सत् शास्त्रों का अध्ययन करके बुद्धि को विवेकी बनाया है वह जिज्ञासु सिद्धान्त का पात्र है। बालक को वृद्ध पुरुष को भ्रान्त युक्त और कुसंगति करने वाले को तथा स्त्री पुत्र धन आदि में अहंता ममता करने वाले को तथा सुख से जीवन बिताने वाले को कभी उपदेश न करे। क्योंकि जो मुमुक्षु पुरुष होता है वह अनेक जन्मों से निष्काम यज्ञ, दान, तप, और ईश्वर भक्ति आदि करके शुद्ध अन्तःकरण होकर युक्ति पूर्वक गुरु शास्त्र द्वारा उपदेश को श्रवणादि करके ब्रह्माकार वृत्ति से अज्ञान का आवरण दूर करता है जैसे सन्त पुरुष। और जिस प्रकार तीर्थ आदि को त्याग कर पाप वाले स्थानों में दिया हुआ अन्न निष्फल होता है उसी प्रकार जो पुरुष राग द्वेष सहित क्रिया करता है तथा इन्द्रियों के सुख से अपने को सुखी मानता है और वेदान्त शास्त्र को पढ़कर भी भोग विलास में रत रहता है वह मनुष्य उपदेश का अधिकारी नहीं है क्योंकि उसका हृदय मैला है। जो पुरुष वैराग्य रहित परमात्मा की भावना के संस्कारों से

शून्य उत्पन्न हुआ है वह पुरुष ही निष्फल है।

प्रश्न ७९—अनुभव ज्ञानी तथा वाचक ज्ञानी की क्या पहचान है ?

उत्तर—दोनों प्रकार के ज्ञानियों की एक बड़ी पहचान है। कि साधक ज्ञानी में तो उस ज्ञान का अनुकरण होता है और वह अपने में पूर्ण होता है और वह अपने में किसी प्रकार का धोका और भ्रम तथा कमी नहीं देखता उसमें अभिमान घमंड ईर्षा द्वेष इत्यादि नहीं होते और उसकी बातें शान्त रूप और सहज स्वभाव की होती हैं और बातों की बहस अथवा लड़ना झगड़ना नहीं होता इसी कारण से उसको हार जीत का पक्षपातान्तर नहीं होता अर्थात् हार जीत का कोई ख्याल नहीं होता उसमें किसी प्रकार की वासना नहीं होती ईश्वर की दृष्टि से (सृष्टि में) जितने प्राणि मात्र हैं उन सबको मन ही मन से प्रणाम करता है क्योंकि भगवान् अंश रूप से अर्थात् जीव रूप से सबके हृदय में विराजमान हैं और हृदय में जो ज्ञेय है उसका अनुभव उसको होता है, न मैं हूं न यह जगत् है ऐसा निश्चय होता है और पूर्ण दृष्टि को धारकर अपने पुरुषार्थ के अभिमान से रहित होकर अपने आप में स्थित होकर

और शरीर आदि को प्रारब्ध किंवा ईश्वर इच्छा पर छोड़कर ममता और अभिलाषा से रहित होता है और दुखों के आने पर व्याकुल नहीं होता और न किसी से अपनी प्रशंसा चाहता है दूसरे बातूनी कथक्कर ज्ञानी होते हैं उनमें खाली बातें ही बातें होती है इसकारण वे लोग अभिमान तथा घमंड आदि से युक्त रहते हैं और उनको किंचित मात्र भी शान्ति नहीं होती जब तक वह अपने परं प्रेमास्पद से एकता को प्राप्त नहीं कर लेते तब तक वह बातों के उतार चढ़ाव बांधते ही रहते हैं इसी लिये उनमें विवेक वैराग्य उदारता आदि गुण उदय नहीं होते क्योंकि जो मनुष्य बहुत सी बातें बनाना सीख जाते हैं उनके ख्याल नाना प्रकार के होते हैं। इसलिये उनके कथन से दूसरे मनुष्यों पर प्रभाव भी नहीं पड़ता। बहुत बोलना और पूछने पर इधर उधर की बातें सुनाना जानते हैं परन्तु बिना साधन और अनुभव के शान्ति नहीं आती अतः व्यर्थ बातों को छोड़ कर मनुष्य को साधन में लगकर अपने ध्येय को प्राप्त करना चाहिये वृत्ति को बहिरङ्ग रखने से विस्तीर्णता की अवस्था में अपना कोई ठिकाना नहीं रहता वरन् बाहर से भी होते चले जाते हैं मानो [illegible]

हम स्थूल दृष्टि रखकर नाशवान् से प्रतीत होने लगते हैं इसी से हम मान अपमान से सुखी तथा दुखी होते रहते हैं अनुभव के बिना दूसरे को प्रसन्न करने में लग जाना यह एक प्रकार का विकार है अर्थात् बेगार है ऐसे वाचक ज्ञानी से जिज्ञासु को सदैव पृथक् रहना चाहिये जो कुछ भी कहना सुनना लिखना पढ़ना हो वह अपने संभाल के लिये हो अर्थात् साधन के लिये हो और वह अपना साधन ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

प्रश्न ८०—जगत् को मिथ्या स्वप्नवत् जानते हुए भी फिर दुखी क्यों होते हैं ?

उत्तर—इस संसार का दुख अज्ञान करके होता है अर्थात् उसकी वासना समूल नष्ट नहीं हुई है इससे उस का दुख भी निवृत्त नहीं हुआ यदि विचार के द्वारा संसार की वासना निवृत्त हो जाय तो जगत् का दुख मृग तृष्णा के जल की तरह सर्वथा मिथ्या प्रतीत होने लगता है जगत् की सत्ता में और शरीर में अहंकार होने से अर्थात् शरीर को ही मैं मानना तथा इससे सम्बन्ध रखने वाले स्त्री पुत्र धनादि में अहंता ममता करने से अवश्य दुख प्राप्त होता है केवल मिथ्या शब्द मात्र उच्चारण करने से दुख दूर नहीं होता विवेकी तथा

वैराग्य सम्पन्न पुरुष ही दुखों से मुक्त रहता है क्योंकि वैराग्यवान् पुरुष निर्वासनिक एवं अभिलाषाओं से रहित होकर अपने निज स्वरूप में मग्न होकर दुखों को केवल कल्पना मात्र जानकर सुख से जीवन यात्रा व्यतीत करता है यथार्थ बोध होने पर सत्य तथा असत्य की सब कल्पना मिट जाती है जब तुमने जगत को मिथ्या स्वप्न की तरह जाना तब सुख तथा दुखों को स्वप्न की तरह मिथ्या क्यों नहीं जाना। सुख दुखों को सच्चे क्यों जानते हो ? बस दुखों का कारण यह है कि तुमने उनको सच्चा समझा है इसी कारण तुम्हारा दुखों से छुटकारा नहीं होता। तुम सुख तथा दुख को भी जगत् रूप जानकर स्वप्नवत् मिथ्या जानों तुम दुखों से मुक्त हो जाओगे।

प्रश्न ८१—ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन क्या है ?

उत्तर—सत् शास्त्रों का बारम्बार अभ्यास करने से तथा सत्गुरु की निष्कपट सेवा भक्ति करने से तथा सत् पुरुषों की संगत् और शुद्ध विचार रखने से विवेक वैराग्य के द्वारा इच्छाओं की पूर्ण रूप से निवृत्ति होने पर महावाक्य के तत् और त्वं के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के संशोधन करके ब्रह्म का साक्षात्कार होता है उस समय अपने निजस्वरूप [illegible] परमात्म

से अभेद रूप निश्चय करता है जिन पुरुषों को शास्त्र ज्ञान और सत्संग प्राप्त होता है और अपने वर्णाश्रम के अनुसार सत् कर्म के द्वारा जिनकी पाप वासना नष्ट हो गई है उन पुरुषों को सार वस्तु का विचार स्वयं ही उत्पन्न होने लगता है जब तक मनुष्य अपने आपका निरीक्षण न करे तब तक शास्त्रों का तत्व प्राप्त नहीं होता (मैं कौन हूं ? शरीर हूं मन हूं प्राण हूं) जिन मनुष्यों का मन उत्पत्ति तथा नाशवान जगत की नश्वर वस्तुओं में अत्यन्त राग भाव को प्राप्त हुआ है उस मूढ़ बुद्धि पुरुष रूपी पशु को विवेक की सम्भावना कदापि नहीं हो सकती अतः प्रथम मनुष्य अपना मन विवेक वैराग्य से संयुक्त करे तत्पश्चात गुरु के द्वारा उपदेश से युक्त होकर ध्यान पूजा जप द्वारा क्रम से ही परंपवित्र पद को प्राप्त होता है अर्थात् शुद्ध मन करके तथा सब प्रकार की सम्पूर्ण अभिलाषाओं का त्याग करके ही अपने को अपने आप में ही पूर्ण रूप से ब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है ।

प्रश्न ८२—जब जगत ईश्वर रूप ही है तो ईश्वर भाव हममें क्यों नहीं आते और हम ईश्वर को अपने से भिन्न क्यों देखते हैं ?

उत्तर—सम्पूर्ण रूप से दोषों का परित्याग करने पर ईश्वरी गुण स्वयं आजाते हैं अर्थात् कामनाओं का त्याग तथा कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभिमान निवृत्त होने पर ईश्वरी भाव अपने आप आजाते हैं किंवा दैवीसम्पत्ति का आचरण करने पर ईश्वरी भाव अर्थात् दयालुता, कृपालुता संगत्याग निर्भयता निरभिमानता आदि गुण स्वयं आ जाते हैं जैसे दाता के द्वार पर भिक्षुक स्वयं आ जाते हैं जो मनुष्य विषयों से तिरस्कृत होकर अर्थात् ठुकराये जाने पर भी विषयों का परित्याग नहीं करते ऐसे विषयासक्त मनुष्यों के पास ईश्वरी गुण नहीं आते जैसे किरातों के देश में ब्राह्मण नहीं जाते जिनका जीवन दोष युक्त है और जो देहाभिमान संयुक्त संसारी झगड़ों में उलझे हुए हैं तथा जो वर्णाश्रम अभिमानी हैं वह पुरुष ईश्वर को पाने से भिन्न मानकर इधर उधर भटकते रहते हैं और राग द्वेश रूपी अग्नि से दग्ध रहते हैं अपने से भिन्न ईश्वर को देखने वालों की दृष्टि बहुत संकुचित हो जाती है तथा ईश्वर को मानते हुये भी शान्ति नहीं मिलती इसी कारण से उनमें अनेक दोष छिपे रहते हैं द्वैत दृष्टि की यह ही महिमा है सर्व दोषों का निवारण नहीं हो सकता ।

प्रश्न ८३—वेद किसको कहते हैं और भूत, प्रेत योनि सच्ची हैं या झूंठी ?

उत्तर—वेद कहते हैं जानने को और जानने में पांच वस्तुयें आती हैं अर्थात् आकाश वायु अग्नि जल तथा पृथ्वी इन्हीं का वर्णन वेदों में है वेद इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं यह पांच तत्व ब्रह्म की शक्ति हैं किंवा स्वभाव हैं शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं इसी प्रकार स्वभाव भी स्वभाव वाले से भिन्न कदापि नहीं होता इसी लिये वेद ईश्वरी ज्ञान है ईश्वरी ज्ञान प्राप्ति का साधन कर्म, उपासना तथा ज्ञान है सो वेद के त्रिकांड का सार कहते हैं किसी पुस्तक का नाम वेद नहीं मन्त्रों के समुदाय का नाम वेद है जिसके तीन भाग हैं एक मंत्र भाग ऋग वेदादि चार संहिताओं की सूरत में हैं जिनमें कर्म उपासना ज्ञान भरा पड़ा है वैसे तो कर्मकांड की श्रुतियां अधिक रूप से हैं क्योंकि कर्मकांड के अधिकारी विशेष हैं उपासना कांड की उससे न्यून और ज्ञानकांड की श्रुतियां उपासना कांड से न्यून।

दूसरा वेद ब्राह्मण भाग है उसमें कर्मकांड की विधि लिखी है क्योंकि मूल संहिता में विधि नहीं लिखी है वेद एक बात को कह देता है यह बात क्योंकर करनी

चाहिये यह वेद के ब्राह्मण भाग के आधीन है। यज्ञ क्या है और प्रत्येक यज्ञ क्योंकर किया जाता है और किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है तथा यज्ञ में कितने ब्राह्मण हों और कितने काल तक पूजन आरम्भ रहे तथा कौन २ से मन्त्र किन २ ब्राह्मणों को पढ़ने चाहिये तथा यज्ञों का फल क्या है इत्यादि बातें ब्राह्मण भाग में हैं।

तीसरा वेद का उपनिषद् भाग जिसको ज्ञान संहिता भी कहते हैं अर्थात् मूल मन्त्रों में जो ज्ञान बीज के रूप से है उस ज्ञान को उपनिषदों ने स्पष्ट रूप से खोल दिया है उपनिषदों में जो उपासना भाग है वह विशेषकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये हैं जिनमें ॐ तथा प्राण की उपासना है उनका आशय उपासना से नहीं है प्रत्युत ब्रह्म ज्ञान से ही है जैसे कहा है कि ब्रह्म सत् को भी सत् है वेद में वाक्यों के अर्थ अपूर्व ही होते हैं उन अर्थों को साधारण दृष्टि रखने वाले नहीं जान सकते अभक्ष्य भोजन से मनुष्यों की प्रकृति तामसी हो जाती है और जब तामसी प्रकृति हो जाती है तो अन्तःकरण दूषित हो जाता है और अपनी वासना के अनुकूल अर्थ का अनर्थ कर देते हैं तथा बहुत से मन्त्र के ब्राह्मण भूत प्रेत

जिन आदिक की मन में वासनायें उत्पन्न हो जाती हैं तथा ऐसे ही संस्कार बुद्धि में हो जाते हैं और फिर जहां कहीं वायु अशुद्ध होती है वहां जाने से वहां की अशुद्ध वायु का प्रभाव उसके मस्तक पर पड़ता है। उससे उसकी बुद्धि के संस्कारों को प्रगट होने की प्रेरणा होती है और जब वह संस्कार बुद्धि में प्रवेश कर जाते हैं तो मन में भय उत्पन्न हो जाता है और उससे उसी प्रकार की वासनायें होकर उसी के अनुकूल चित्त की वृत्तियों का परिणाम होने लगता है विशेषकर रात्रि में सूर्य की किरणों के अभाव से शमशान आदि के अशुद्ध परमाणुओं से मिली हुई जो वायु है वह परमाणुओं के स्थूल होने से अधिकतर अशुद्ध प्रभाव डालने वाली हो जाती है और कभी २ मकानों की वायु भी शुद्ध न रहने से अशुद्ध होती रहती है।

बच्चे जिनकी प्रकृति अधिकतर कोमल और सूक्ष्म होती है उनके ऊपर उस दूषित वायु का प्रभाव पड़ता है उस समय उनकी दशा सन्निपात् आदिक रोगों के समान हो जाती है सन्निपात् के समान मिथ्या भूत, प्रेत सच्चे प्रतीत होकर दुखों का कारण हो जाते हैं जिस प्रकार अज्ञान रूपी प्रकृति से मिथ्या स्वप्न की सृष्टि

सच्ची प्रतीत होने लगती है और सुख तथा दुख का कारण बन जाती है वास्तविक कुछ है नहीं परन्तु उस समय उसको मिथ्या कहो तो कोई नहीं मानेगा इसी प्रकार भूत, प्रेत के विषय में जान लो जैसे बोधवान् को यह जगत् तीन काल में मिथ्या प्रतीत होता है और इसके विपरीत अबोधवान् को सच्चा प्रतीत होता है सन्निपात आदि रोगों में कुछ का कुछ देखता तथा सुनता है इत्यादि इसी प्रकार प्रकृति विकार वाली होकर मिथ्या भूत प्रेत आदि की प्रतीति करा देती है उसके लिये भूत प्रेत सत् ही प्रतीत होने लगते हैं उनसे यह बात कहो कि भूत प्रेत मिथ्या हैं तो वह कहते हैं कि इसमें क्या प्रमाण है जबकि भूत प्रेत उनकी प्रकृति के अनुसार उनको प्रत्यक्ष हो रहे हैं यह प्रकृति उनको नाना प्रकार के रोग मिथ्या भूत प्रेत आदि को सच्ची प्रतीत करा कर मृत्यु करा देती है।

प्रत्येक की प्रकृति पृथक् २ होने से एक दूसरे की बात को असत्य समझता है क्योंकि उसकी प्रकृति का विषय नहीं है इसी प्रकार अज्ञान रूप प्रकृति आनन्द रूप संसार को शोक रूप प्रतीत कराती है और अज्ञान के दूर होने से ब्रह्मानन्द ही का भान होता है दूसरी वस्तु

कुछ नहीं एक तत्व अपनी महिमा में विराजमान है।

प्रश्न ८४—बोधवान में जड़ता नहीं रहती और वह आवरण रहित होता है इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—जड़ता न रहने का आशय यह है कि बोधवान अपने में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं देखता और न किसी अवस्था को ही अपने में देखता है अर्थात् किसी प्रकार की अवस्था का भेद अनुभव नहीं करता क्योंकि अवस्था भेद जड़ में होती है तत्व में नहीं वह अपने निज स्वरूप में स्थित है विवेक वैराग्य सम्पन्न पुरुष यथार्थ स्वरूप को जानकर और अनात्म अभिमान का त्यागकर आवरण रहित भाव को प्राप्त होता है उसमें दुख नहीं है जो जडता के कारण होते हैं अर्थात् जिसको देहाभिमान रूपी अज्ञान है वह परंदुखी है कारण जितने भी दुख हैं वह सब शरीर के संयोग करके होते हैं शरीराभिमान से मान, अपमान, बुढ़ापा, दम्भ, मोह, भ्रम, जन्म मृत्यु आदि सर्वविकार का भय शरीर अभि-मान करके होते हैं। जिनको अपने देह का अभिमान है उनको धिक्कार है तथा उनके साधन को भी धिक्कार है। ऐसे साधन युक्त मनुष्य भी सम्पूर्ण दुखों से मुक्त नहीं हो सकते जैसे कोई स्वप्न में अपने आप प्रवेश

करती है उसी प्रकार शरीराभिमानी को सब ओर से दुख घेर लेते हैं। जिन मनुष्यों को यथार्थ बोध करके ज्ञान निष्ठा प्राप्त हुई है तथा देह के अभिमान से रहित हैं वही मनुष्य श्रेष्ठ और नमस्कार के योग्य हैं। मन में जो चैतन्य भाग है वह चिदात्मा का स्वरूप है जब इस चैतन्य भाव में मनुष्य स्थित होता है उस दशा में शुद्ध स्वरूप होता है क्योंकि मन में जो जड़ अंश है (अनात्मा में आत्म बुद्धि) उसका अभिमान करना ही अबोध है जब अबोध भावना होती है तब अपने को शरीरादि मानने लगता है इसी अभिमान संयुक्त शरीर के द्वारा मनुष्य ब्रह्मानन्द से विमुख रहता है और देह अभिमान के निवृत्त होने पर ही आनन्द की अनुभूति होती है अबोध निवृत्त होने पर वह ज्ञान ही ऐसी सम्पूर्णता को प्राप्त होता है कि वह ज्ञान आदि अवस्था के ज्ञान की तरह नहीं प्रतीत होता बल्कि अपना निज स्वरूप होकर प्रतीत होता है।

जो बोधवान पुरुष हैं वह आवरण रहित है अर्थात् उनमें असत्वापादक तथा अभानपादक दोनो आवरण नहीं रहते। असत्वापादक आवरण उसको कहते हैं कि जो आत्मा (ब्रह्म) की सत्ता अपने हृदय कोट में प्रतीत नहीं

करते और जो आत्मा की सत्ता हृदय कोट में प्रतीत हो परन्तु दृढ़ प्रत्यक्ष प्रतीत न हो वह अभानपादक आवरण है सो यह जिज्ञासु को होता है और असत्ता पादक आवरण अज्ञानी जड़ को होता है अतः ज्ञानवान् इन दोनों आवरणों से सर्वथा रहित हैं इसलिये वह निरावरण शान्त स्वरूप, आकाशवत् निर्मल निरालम्ब हैं उसको एक तथा दो का भ्रम किंवा शंका नहीं रहती अर्थात् वह किसी गुण के आश्रय नहीं रहता क्योंकि वह आत्म रूपी तीर्थ में डुबकी लगा चुका है।

प्रश्न ८५—जीव की मुख्य अवस्था क्या है?

उत्तर—अन्तःकरण की चार अवस्था हैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इनमें से जीव की मुख्य अवस्था चित्त है अतः यदि मनुष्य एक ही चित्त को सुधार लें तो सब सुधर जाता है। यह चित्त मन के सम्बन्ध से इच्छा को लेकर जगत के पदार्थों को रचता है, और बुद्धि के सम्बंध से ज्ञान रूप जगत् को रचता है अर्थात् सर्व जगत को अपने आत्म स्वरूप से देखता है क्योंकि चित्त के अनुसार ही प्राणी जगत का दर्शन करता है अहंकार के सम्बन्ध से संसार को अपना बनाता है प्रथम अपने देह में अहंकार करता है पश्चात् शरीर की शुभ तथा अशुभ क्रियाओं का अभिमान

उठाता है और पुनः शरीर के सम्बन्धियों में अपने पन का अभिमान करता हुआ जब मृत्यु के निकट आता है तब उस शरीर से अलग होकर नाना प्रकार की योनियों को प्राप्त होता है यह चित्त के बन्धन की दशा है और जब चित्त अपनी मोक्ष दशा को प्राप्त करना चाहता है तब उस मन का सम्बन्ध त्यागकर अपने अभ्यास के द्वारा बुद्धि का सम्बन्ध करके विवेक वैराग्य उपरामता और शान्ति दशा में प्रवेश करता है और शरीर सम्बंधी मलीन अहंकार को त्यागकर बोध सम्बन्धी शुद्ध अहंकार को साथ लेकर पूर्ण एकता करके अपने निज स्वरूप में जा पहुंचता है फिर यह संसारी विकार अर्थात् नानत्व भाव किंवा जीवन मरण आदि प्रतीत नहीं होते विकार तो मलीन अहंकार में है जो देहाभिमान दृश्य होकर दृष्टा का अभिमान कर रहे हैं और ज्ञेय होकर ज्ञाता बन रहे हैं मूर्ख होकर बुद्धिमानी का वृथा अभिमान उठा रहे हैं और अनेक इच्छाओं से युक्त होकर अपने को निरीह समझ रहे हैं और असंख्य संकल्प तथा मनो राज्यों को बांधते हुए अपने को संकल्प रहित तथा आत्मा समझ रहे हैं जब हम दृश्य और ज्ञेय भाव में आते हैं तो बस सब प्रकार से मलीन किंवा अशुद्ध ही

रहते हैं फिर हम में शुद्धता का कोई कथन ही नहीं इस लिये शुद्ध बोध से विचार करके पांच भौतिक् अनात्म अभिमान को त्याग कर अपने निज स्वरूप में स्थित रहे जीव को आनन्द आत्म विश्राम के सिवाय दूसरा स्वरूप किंवा मुख्य अवस्था और कुछ नहीं है। मलीन अहंकार से रहित चित्त ही चित्त कहा है उसको परंतत्व में विश्रान्ति हो जाती है वही जीव का मुख्य स्वरूप हैं।

प्रश्न ८६—अद्वैत आनन्द किसे कहते हैं और उसको प्राप्त करने का साधन क्या है ?

उत्तर—देखो यह संसार जो सत् और चित् घन रूप है अर्थात् सच्चिदानन्द के सिवाय दूसरी वस्तु कुछ नहीं है और न उसके अन्दर (कुछ) प्रवेश ही कर सकती है इसमें मिथ्या दृश्य इसी प्रकार दीख पड़ते हैं जिस प्रकार दर्पण में वस्तुयें जिस प्रकार सर्व वस्तुओं सहित अवकाश दर्पण में प्रतिबिम्ब के रूप में दिखाई देता है यदि दर्पण न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता दर्पण के होते हुए ही प्रतिबिम्ब पड़ता है इसी प्रकार यदि ब्रह्म न हो तो यह नाम रूप के मिथ्या आकार भला क्योंकर अनुभव में आ सकते हैं इसलिये प्रथम तुम विवेक वैराग्य द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म को पहिचानो इसमें ही नाम रूप

का मिथ्याभान होता है फिर अपनी शुद्ध बुद्धि में इन नाम रूप वाली वस्तुओं को न आने दो फिर सच्चिदानन्द ब्रह्म नाम रूप से रहित शेष रह जायगा अर्थात् पंचकोशों का बाध करके जो कुछ शेष रहे वह तत्वमसि महा वाक्य का लक्ष्यार्थ है जो सबका अपना आप है। बस यही अद्वैत आनन्द ब्रह्म है ब्रह्म सत् चित्त तथा आनन्द रूप है किंवा यह स्वभाव है गुण नहीं मिट्टी तथा पत्थर आदि में केवल सत्ता मात्र का अनुभव होता है अर्थात् सत्पने का शेष दो का नहीं घोर तथा मूढ़ बुद्धि की वृत्तियों में सत्ता तथा चैतन्यता इन दोनों स्वभावों का प्रकाश होता है शेष आनन्द का नहीं। शान्त वृत्ति में तीनों उद्भूत होते हैं इसी प्रकार वृत्ति की उपाधि से युक्त सगुण ब्रह्म का दर्शन है * अतः मनुष्यों को शान्तवृत्ति में तीनों का ध्यान करना चाहिये ‡। मन्द

* इसमें यह शंका नहीं करनी चाहिये कि पत्थर तथा घोर मूढ़ वृत्ति में आनन्द का उदय क्यों नहीं होता परमात्मा तो सर्व व्यापक है और एक स्वभाव दूसरे से अभिन्न है इसका उत्तर यह है कि शुद्ध जल में अग्नि की उष्णता तो प्रविष्ट हो जाती है परन्तु प्रकाश नहीं इसी प्रकार घोर मूढ़ वृत्तियों में केवल सत् की चैतन्यता का तो प्रकाश होता है आनन्द का नहीं।

‡ घोर तथा मूढ़ वृत्तियों में दुःख को छोड़कर सत् तथा चित दोनों का ध्यान करना चाहिये।

बुद्धि वाला मनुष्य मध्यम कोटि का अधिकारी है इस लिए इसको व्यवहार में रहते हुए सगुण ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये। इस साधन के द्वारा तीनों उपाधियां नहीं रहतीं फिर निर्गुण ब्रह्म का दर्शन होता है अर्थात् वृत्ति रहित निरुपाधिक स्वयं प्रकाश अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। तात्पर्य यह है कि शान्त आदि बुद्धि की वृत्तियों से एकता भाव को पाकर ब्रह्म की उपाधि का नाम दिया जाता है अर्थात् वह शुद्ध ज्ञान अपने आपको इन्हीं का रूप अपने में आरोपित कर लेता है योग से किंवा ज्ञान से यह उपाधियां नहीं रहतीं निरुपाधिक सत् चित् अखण्ड एक रस अद्वैत ब्रह्म का अनुभव होने लगता है अर्थात् त्रिपुटी नहीं रहती यही अद्वैत आनन्द है काष्ठ में अग्नि की उष्णता तथा प्रकाश दोनों प्रकाशित होते हैं इसी प्रकार शान्त वृत्ति में ब्रह्म की चैतन्यता और आनन्दता दोनों ही प्रगट होते हैं।

आशय यह है कि शान्त वृत्ति केवल अनुभव रूप ही नहीं जैसे घोर और मूढ़ वृत्तियां हैं किन्तु इसमें सुख तथा आनन्द का भी अनुभव होता है यों तो ब्रह्म की चैतन्यता और आनन्दता सब में समान है परन्तु यह नियम है कि अनुभव के अनुसार घोर और मूढ़ वृत्तियों

में सुख नहीं क्योंकि राजसी तथा तामसी होने से घर आ
कृपि आदि विषय में इच्छा होना राजसी घोर वृत्ति है इस
से इसमें सुख नहीं इसलिये संशय की दशा में रहता है कि
कामना पूरी होती है अथवा नहीं यदि पूर्ण हो जायें तो सुख
बढ़ता है और पूर्ण न हों तो क्रोध उत्पन्न होता है किंवा
प्रतिकूलता से शत्रुता उत्पन्न होती है फिर शोक उत्पन्न
होता है जो कि तामसी वृत्ति है इसी को मूढ़ वृत्ति भी
कहते हैं इस अवस्था में दुख ही दुख होता है सुख तो
लोभ क्रोध तथा कामना के न करने से है वैराग्य में
सब से बढ़कर सुख है इस प्रकार वृत्ति की उपाधि के
साथ साधारण पुरुषों के लिये सगुण ब्रह्म का वर्णन
किया गया है निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म योग तथा ध्यान
से जाना जाता है जोकि हम प्रथम ही कथन कर चुके हैं।

प्रश्न ८७—शरीर जड़ है किंवा चैतन्य ?

उत्तर—शरीर न जड़ है न चैतन्य, जड़ इस कारण
से नहीं कि इससे अनेक कार्य सिद्ध होते हैं और चैतन्य
इस कारण से नहीं है कि इसको अपने आपका कुछ ज्ञान
नहीं होता इसलिये मध्यम भाव में है क्योंकि चैतन्य
आत्मा इसमें स्थित है। शास्त्र दृष्टि से देखो तो शरीर
मनोमात्र है अर्थात् मन की कल्पना है मन का अपना

स्वरूप कुछ नहीं शून्य है जब वह स्वयं शून्य है तो उस के कल्पे हुए शरीर को क्या कहें। भ्रम हुआ प्रतीत होता है जैसे रस्सी में सर्प भ्रम करके प्रतीत होता है वास्तविक शरीर तीन काल में नहीं है अपनी उत्पत्ति से प्रथम न था मरने पर नहीं रहेगा जो वस्तु आदि में नहीं अन्त में भी न दीख पड़े तो वह मध्यम काल में भी नहीं होती जैसे भ्रम काल में ही रस्सी में सर्प दीख पड़ता है न प्रथम था और न पश्चात् रहेगा जब रस्सी में सर्प तीन काल में भी नहीं तो उसको काला लम्बा आदि क्या कहें इसलिये शरीर को जड़ चैतन्य क्या कहें केवल मूर्खता की कल्पना है सो प्रमाण युक्त नहीं इस कारण शरीर नहीं आत्मा है वही अस्ति भाति प्रय रूप से अनुभव में आ रहा है दूसरी वस्तु का सर्वथा अभाव है।

प्रश्न ८८—इस संसार का ज्ञान सबको एक जैसा होता है अथवा भिन्न भिन्न ?

उत्तर—अपनी अपनी वासना के अनुसार जगत् की प्रतीति भिन्न २ होती है एक जैसी नहीं राग द्वेष के कारण शत्रु में मित्र भावना और मित्र में शत्रु भावना हो जाती है इसी प्रकार भ्रम करके और का और भासता है जैसे कोई मनुष्य बड़ा होता है और कोई छोटा होता

है तो छोटे को बड़ा प्रतीत होता है और बड़े को छोटा जैसे हाथी के आगे बैल घोड़ा आदि पशु तुच्छ प्रतीत होते हैं और चैंटी के आगे बैल घोड़ा आदि बड़े प्रतीत होते हैं इसी प्रकार बोधवान् को बड़े पदार्थ देश काल के संयोग से (दीखने वाला संसार) तुच्छ प्रतीत होता है और वह उनको मिथ्या ही अनुभव करता है न छोटा और न बड़ा जानता है केवल एक तत्व जो अनेक रूप से प्रतीत हो रहा है वही अनुभव करता है कि जो कुछ भी है सब मैं ही हूं जिसने अपने आपसे आप को पाया है उसका बड़ा छोटा देखने का भाव समाप्त हो जाता है और जो अज्ञानी हैं उनको संकल्प सृष्टि बड़ी होकर प्रतीत होती है जैसे पर्वत बड़ा होता है परन्तु जिसकी दृष्टि से दूर है उसको वह पर्वत छोटा प्रतीत होता है और चैंटी के निकट एक ज़रा सा मिट्टी का ढेला भी पर्वत के समान प्रतीत होता है उसी प्रकार बोधवान् की दृष्टि से यह बड़ा जगत भी तुच्छ रूप प्रतीत होता है अर्थात् उसकी दृष्टि में यह जगत् है ही नहीं और अज्ञानी को तुच्छ जगत् भी बड़ा प्रतीत होता है। वस्तु एक है अनेक नहीं उस एक वस्तु में अपनी २ भावना के अनुसार नानापन दिखाई देता है जैसे रस्सी एक है परन्तु अपनी अपनी २

भावना के अनुसार कोई सर्प, कोई दंडा कोई माला तथा कोई पृथ्वी की दरार आदि की कल्पना कर बैठता है ।

प्रश्न ८९—परमार्थ में रुचि (इच्छा) क्यों नहीं होती ?

उत्तर—जैसे अधिक सोने से ब्राह्म महूर्त में न उठने के कारण व्यवहारिक कार्य यथेष्ठ रीति से नहीं होते आरम्भकाल में ही अर्थात् प्रारम्भिक जीवन से ही बच्चों को धार्मिक शिक्षा न देकर उनको शरीर की सेवा और पूजा आदि की विद्यां सिखलाई जाती है वही संस्कार बड़ी आयु में प्रगट होते हैं इसी कारण से बड़ी आयु होने पर परमार्थ की बात चीत अच्छी नहीं लगती और इसी कारण से सत्संग भी नहीं भाता अतः परमार्थ में अरुचि होती है और विषय वासनाओं के पीछे पड़ा रहता है तथा शरीर और मन को सुखी करने में लगा रहता है उसका मन घर के काम काज में इतना उलझा रहता है कि उसका चित्त स्त्री पुत्रों में लगा रहता है और उनके इशारे मात्र से नाचता है जैसे कोई मदारी का बन्दर हो इसी कारण से उसकी परमार्थ में रुची नहीं होती ।

प्रश्न ६०—हम दुख क्यों पाते रहते हैं ?

उत्तर—जब तक मनुष्य जगत् के मोह में अर्थात् स्त्री पुत्र कलत्र तथा उपस्थ और उदर आदि के पालन पोषण किंवा नाशवान संसार की वस्तुओं के पीछे पड़ा रहता है और अविनाशी तत्व को न संभाल कर विवेक वैराग्य से रहित होकर दुखों का कारण बनता है और संसार के दुखों से दुखित होता रहता है यही तो आश्चर्य है कि दुखों से दुखित होते हुए भी प्राणी उनसे सावधान नहीं रहता क्योंकि उसको इसी कारण से अपने दुखों की दशा दुखों के दिखलाने वाली नहीं अर्थात् इनके मुकाबले में उसको ईश्वरी सुख नहीं होता हमको जिन वस्तुओं की चाह किंवा इच्छा होती है वह केवल इन्द्रियों के सुख के लिये है और इसी कारण से सुख की चाह में फंसे रहते हैं परन्तु इस इच्छा के साथ ही साथ जब किंचित भी ईश्वर प्रीति का सुख अपने में आने लगता है तो फिर वही जगत् के सुख जो स्त्री पुत्र धनादि हैं दुखों का पहाड़ बन जाते हैं तात्पर्य यह है कि जगत् के साथ जो प्रेम है वह प्रेम किंवा प्रीति सुख की दिखलाने वाली होकर अन्त में दुख रूप बन जाती है इसी कारण से हम प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य सुखों को देखकर फंस

जाते हैं तत्पश्चात् दुखों के समुद्र में डूब जाते हैं अर्थात् गोते खाते रहते हैं चाहे प्रत्यक्ष में उसकी प्रीति का फल सुखमय प्रतीत हो तथापि उसका परिणाम दुख रूप हो जाता है जैसे जगत् के पदार्थ अपनी अप्राप्ति काल में दुख देते हैं उसी प्रकार जब हम ईश्वर की अप्राप्ति के दुख में आ जाते हैं अर्थात् जब हमको ईश्वर के वियोग का दुख सताता है तो झूठे दुखों से भागकर सच्चे दुख में आजाते हैं फिर हमको शीघ्रता से सच्चे सुख की तलाश होने लगती है या यों समझो कि जिस मनुष्य का हृदय रूपी दर्पण मलीन होता है उसको निसन्देह दुखदायक पदार्थ भी सुख रूप प्रतीत होते हैं इसलिये अशुद्ध मन करके ही दुख होता है किंवा दुख जन्म करके होता है और जन्म शुभ अशुभ कर्म का फल है और शुभ अशुभ कर्म राग द्वेष करके होते हैं और राग द्वेष शरीर के अभिमान से होते हैं और शरीराभिमान मिथ्या ज्ञान करके होता है मिथ्या ज्ञान से जिनकी दृष्टि नष्ट हो गई है वही सुखी हैं तथा जो संकल्प विकल्प के आधीन हुए हैं और स्वात्म निर्णय करने में ज्ञान करके रहित हैं तथा जो अविवेकी मनुष्यों के कहने में फंस गए हैं ऐसे मूढ़ पुरुषों को अपनी मूर्खता से अधिक

दुख देने वाला और कोई नहीं।

प्रश्न ६१—मूर्खता क्या है ?

उत्तर—भगवान् की भक्ति से विमुख रहकर निरन्तर खाने पीने तथा पहनने इत्यादि विषयों में फंसे रहना ही मूर्खता है, जैसे अपनी कामनाओं की प्राप्ति में अपनी की प्राप्ति होती है और जैसे भूख के निवारण में अपने शरीर की पुष्टि तथा सिद्धि होती है उसी प्रकार अपने परं प्रेमास्पद के विचार में ईश्वर की सिद्धि होती है। सन्तों के वचन हैं कि अमृत रूपी ईश्वर में चित्त की वृत्ति जोड़ देने से यह जीव अपनी मूर्खता को छोड़कर अमृत रूप हो जाता है। जैसे कि मरने या बदलने वाले नाशवान् संसार के साथ मिलकर अमृत रूपी जीव भी मरने या बदलने वाला तथा नाशवान् हो रहता है उसका उठना और गिरना मानो एक प्रकार के जन्म मरण के रूप में आता है। जैसे कि जगत् का प्रगट होना और फिर अप्रगट होना होता है उसी प्रकार उसके साथ से वह भी उस गति में रहता है। यथार्थ में तो जगत् के साथ में जीव की ऐसी गति नहीं हो जाती। जगत् की गति से पृथक ही रहता है, परन्तु वह उससे पृथक अपनी गति को न देख कर ऐसे सुख की इच्छा करता है कि जिसका

दुख अर्थात् जन्म मरण के सिवाय और कुछ नहीं होता अर्थात् ऐसे निर्जीव जीवन का सहारा लेना ही अन्त में मरण का दुख उठाना है। परन्तु जब चित्त की वृत्तियों को सन्तों के उपदेश द्वारा निज स्वरूप में लगाता है, तो फिर वही चित्त ईश्वर के प्रेम में लग जाता है, पश्चात् ऐसे सुख का अनुभव करता है कि सुख फिर दुख के रूप में नहीं बदलता अर्थात् ऐसे नित्य जीवन में जा बसता है जो सदैव काल बना रहता है। जगत् अपूर्ण अवस्था में है और ईश्वर अपनी पूर्ण अवस्था में है, जगत् का साथ देने से जीव भी अपूर्ण तथा कमी में रहता है, और ईश्वर के साथ से आप पूर्णता में आ जाता है अर्थात् आपको भी पूर्ण रूप से देखने लगता है किंवा जीव जगत् का स्वामी होकर स्वतन्त्रता के साथ रहता है परन्तु जब कामना करता है कि यह भी मिल जाय और वह भी मिल जाय। मानों अपूर्ण जगत् की अपूर्ण सम्पत्ति से अपने को पूर्ण बनाना चाहता है। फल यह होता है। कि ईंट पत्थरों से अपना माथा फोड़ता है और जब ईश्वर से प्रेम करता है तो उसमें यह लेना और वह लेना कहां है मानों उसका यह वह का भेद ही उठ जाता है किंवा सांसारिक सुखों को भोगते हुए

दुखों का अनुभव न करना अर्थात् उन विषय जन्य सुखों को किसी पूर्व शुद्ध प्रारब्ध द्वारा प्राप्त न जान कर अपने पुरुषार्थ का अभिमान उठाकर अपने निज जीवन को विषय जन्य रसों में डालकर उनका आस्वादन करते रहना तथा परलोक भय न करना ही मूर्खता है।

प्रश्न ९२---अजातवाद और दृष्टि सृष्टिवाद किसको कहते हैं ?

उत्तर—जागृतकाल में स्वप्न के पदार्थों की स्मृति होती है, और स्वप्न में विशेष कर जाग्रत के पदार्थों की स्मृति नहीं होती, इससे जाग्रत प्रपंच असत् है, स्वप्न के समान होने से इस दृष्टान्त से स्वप्न प्रपंच भी असत् वन्ध्यापुत्र के समान है और जब जाग्रत प्रपंच का भी अभाव हुआ तो उसी के अन्तरगत् समाधि अवस्था का भी अभाव हुआ और जब जाग्रत तथा स्वप्न दोनों प्रपंचों का अभाव हुआ तब दोनों अवस्थाओं में वर्तमान बुद्धि के अभाव से चैतन्य में उस बुद्धि का लय रूप सुषुप्ति और सुषुप्ति के अन्तरगत् मरन तथा मूर्छा का भी अभाव हुआ, इस प्रकार से ब्रह्म में सर्व प्रपंच की असिद्धि से अजातवाद सिद्धि है। और दृष्टि सृष्टिवाद में सम्पूर्ण अनात्म पदार्थों की एक प्रतिभासिक सत्ता होने

से जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं का ब्रह्म चैतन्य अधिष्ठान वेदान्त आचार्यों ने माना हैं, दृष्टि का अर्थ है अविद्या की वृत्ति रूप ज्ञान उसके समकाल में ही प्रपंच की उत्पत्ति और उसका निरुपण है अर्थात् जब जब दृष्टि है तब तब सृष्टि है दृष्टि के अभाव से सृष्टि का भी अभाव होता है, इसी को अजातवाद कहते हैं, वेदान्त में अजातवाद मुख्य माना है, एक आत्म सत्ता ही भ्रान्ति से सृष्टि की नाईं प्रतीत होने लग जाती है, जैसे भयभीत मनुष्य को रस्सी में सर्प दिखाई देने लग जाता है, और उस मिथ्या सर्प से उसको कपकपी आ जाती है और भयमान होता है, रस्सी में सर्प तीन काल में भी नहीं है, यह भयरुपता किंवा शोक रूपता ही रस्सी में सर्प तथा ब्रह्म में संसार जानों। विचार दृष्टि से न वहां सर्प है न जगत् केवल एक आत्म सत्ता अपने आप में स्थित है। इसलिये जगत् कुछ हुआ नहीं मिथ्या ज्ञान से ही स्वप्नवत् प्रतीति हुई है।

प्रश्न ६३—शास्त्रकारों ने ब्रह्म को वृत्ति का विषय तो माना है और फल का नहीं चैतन्य बुद्धि से परे है उसको अन्तःकरण में प्रथम कौन जानता है मन बुद्धि या अहंकार ?

उत्तर—जैसे दर्पण में मनुष्य अपना दर्शन करता है जो आप करके अपने को जानता है दूसरे की वहां जगह ही नहीं। इसी प्रकार चैतन्य ही चैतन्य को जानता है। अन्तःकरण दर्पण है दीखने और देखने वाला अर्थात बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों चैतन्य हैं, दर्शन का हेतु दर्पण अवश्य है तो भी आंख के बिना अपना दर्शन नहीं होता। इससे चक्षु ही चक्षु को देखती हैं। उसी प्रकार अन्तःकरण भूतों के सतोगुण का कार्य होने से शुद्ध है तो भी ज्ञान के बिना ज्ञान नहीं हो सकता ज्ञान ही ज्ञान को जानता है और ज्ञान चैतन्य का स्वरुप है। तथा पूर्ण है इसी से वह ब्रह्म का स्वरुप है तथा ब्रह्म ही है।

यद्यपि बुद्धि का धर्म निश्चय करना है तथापि वह निश्चय विषम रूप है। इसलिये भेदवादी बुद्धि अभेद रूप चैतन्य आत्मा को नहीं जान सकती, इसलिये ज्ञान ही ज्ञान का विषय है, क्योंकि ज्ञान अद्वैत रूप है आप करके आप प्रकाशमान है चैतन्य के अभासयुक्त अन्तःकरण की जो वृत्ति है उसको ज्ञान कहते हैं, वहां घट आदिक जड़ पदार्थों में अन्तःकरण की वृत्ति तो आवरण की निवृत्ति करे है। और उस वृत्ति में जो चिदाभास है

वह चिदाभास उन घट आदि जड़ पदार्थों का प्रकाश करे है अर्थात् जानता है।

इस कारण से घट आदिक जड़ पदार्थों में वृत्ति की विषयता तथा चिदाभास रूप फल की विषयता दोनों ही विद्यमान हैं, और चैतन्य रूप अद्वितीय स्वयं ज्योति रूप है इस कारण उस अद्वितीय ब्रह्म में चिदाभास रूप फल की विषयता तो सम्भव नहीं, महावाक्यों से उत्पन्न हुई जो अन्तःकरण की वृत्ति है वह वृत्ति अद्वितीय ब्रह्म के अज्ञान रूप आवरण की निवृत्ति करे है. इस कारण से उस वृत्ति की विषयता अद्वितीय ब्रह्म में भी है, देखो आत्म आत्मत्व मात्र हैइसी से आप कर आप जाना जाता है। जैसे सूर्य्य के प्रकाश से चक्षु प्रकाश मान होते हैं और फिर वही चक्षु सूर्य्य को देख कर कहते हैं सूर्य्य ऐसा तथा वैसा है उसी प्रकार वृत्ति चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशमान हुई चैतन्य आत्मा को लक्ष करती है अर्थात् उसके विशेषण निरूपण करती है जैसे सूर्य्य अपने प्रकाश से प्रकाशित होकर अपने को आप देखता है उसी प्रकार चैतन्य आत्मा अपने ज्ञान से अपने आपको अस्ति भाति तथा प्रिय रूप जानता है अर्थात् में सच्चिदानन्द रूप हूं। क्योंकि चैतन्य स्वयं

सूर्य्य के समान प्रकाशरूप है। यदि विचार दृष्टि से देखो तो सम्पूर्ण वस्तु अपने आप में ठहरी हुई हैं। और आपको आप जानती हैं। जैसे आंख को दूसरी इन्द्रिय नहीं जान सकती परन्तु आंख ही आंख को प्रकाशती अर्थात् जानती है और जब आंख को अपने देखने की इच्छा होती है तब दर्पण में अपने आपको देख कर अपनी महिमा करती है अब विचार करना चाहिये कि दर्पण में वा दूसरे चक्षु में किसने किसको देखा यही कहना होगा कि चक्षु ने चक्षु को देखा कैसे देखा इसका उत्तर यह है कि आंख के सामने जो दर्पण किंवा दूसरा चक्षु है वह शुद्ध है और चक्षु स्वयं भी शुद्ध है, शुद्ध वस्तु का सम्बन्ध एक दूसरे प्रतिबिम्ब को उत्पन्न करता है इसी से चक्षु का प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रतीत होता है मानो एक ही चक्षु शुद्ध पदार्थ के सम्बन्ध से दो स्वरूप वाला प्रतीत होता है। वास्तव में दो स्वरूप हुए नहीं दर्पण के सम्बन्ध करके जो बिम्ब है वही प्रतिबिम्ब है उसी प्रकार आत्मा निर्मल और शुद्ध है और अन्तःकरण की वृत्ति भी निर्मल व शुद्ध है जब इनका सम्बन्ध होता है तब आत्मा जो ज्ञान स्वरूप है वृत्ति में प्रतिबिंबित होता है अर्थात् एक ही आत्मा बिम्ब और प्रतिबिम्ब

रूप होकर प्रतीत होता है वास्तव में आत्मा अद्वितीय रूप है विम्ब और प्रतिविम्ब भाव से रहित है परन्तु शुद्ध पदार्थ वृत्ति के सम्बन्ध से अपना ज्ञान आप ही अनुभव करता है अपने विशेषण आप ही कथन करता है इससे आत्मा का ज्ञान आत्मा को होता है वृत्ति को नहीं, दूसरी बात यह है कि आत्मा की मुख्य शक्ति बुद्धि है और बुद्धि की शक्ति ज्ञानेन्द्रिय है और ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति विषय रूप सर्व पदार्थ हैं इससे आत्मा ही बुद्धि है आत्मा ही इन्द्रिय है और आत्मा ही पांच विषय रूप सम्पूए पदार्थ है जब आत्मा के विना दूसरी वस्तु का अत्यन्त अभाव है तो कौन जाने और किसको जाने। जानना द्वैत में होता है। जो प्रत्यक्ष त्रिपुटी काम करती हुई दिखलाई दे रही है सो क्या है इसका उत्तर यह है कि त्रिपुटी भी ज्ञान स्वरूप है क्योंकि ज्ञाता रूप आत्मा भी ज्ञान स्वरूप है और इन्द्रियां भी ज्ञान स्वरूप हैं तथा विषय रूप पदार्थ भी ज्ञान स्वरूप है इसी से तीनों ज्ञान् स्वरूप हैं। और ज्ञान् अद्वैत रूप है उसमें तीन रूप मानना ज्ञान के विरुद्ध है अर्थात् अज्ञान् है इसलिये त्रिपुटी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञानरूप आत्मा है, अतः ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय

तीनों आत्मा ही हैं, और आत्मा का विशेषण सत् चित् आनन्द है।

अब विचार करो कि सत् को सत् प्रकाश करता है। किंवा असत् जो कहो असत् तो असत् उस वस्तु को कहते हैं जिसका तीनों काल में अभाव हो। और सत् उसको कहते हैं जो तीनों काल में वर्तमान हो। जब असत् स्वयं ही तुच्छ है तो उसके प्रकाश में कैसे सहायक होगा, इस कारण सत् का असत् से प्रकाश नहीं होता, और जो कहो कि सत् ही सत् को प्रकाश करता है तो वही प्रकाश और वही प्रकाशक हुआ इससे सिद्ध हुवा कि सत्य अद्वतीय और स्वयं प्रकाश है यह दो वस्तु नहीं है। आप करके आप प्राप्त है और आप करके आप जाना जाता है, इस दृष्टि को धार कर वक्ता और श्रोता ज्ञाता तथा ज्ञेय से अपनी दृष्टि मूंदकर और निर्वाण निद्रा में स्थित होकर परम शान्त गति को प्राप्त हो। और अपनी मस्ती में मस्त होकर अर्थात् फूलकर गोविंद के गीत गाओ। देखो आत्मा निर्विशेष वस्तु है जितने विशेषण. वेदान्ताचार्यों ने किये हैं वह केवल जिज्ञासु को समझाने के लिये हैं, जब समझ आ जाती है उस काल में विशेषण विशेष

विषय कल्पित प्रतीत होकर लीन हो जाते हैं। केवल निर्विशेष वस्तु स्थित रहती हैं जब इस पद पर बुद्धि पहुंचती है तब उस समय कहने तथा सुनने का काम समाप्त हो जाता है अर्थात् बुद्धि का काम जो कि बन्ध तथा मोक्ष की कल्पना हैं वह फिर नहीं रहती।

प्रश्न ६४—वेद में ब्रह्म का स्वरूप अष्ट अंगुल से परे नाभि कमल के ऊपर हृदयाकाश में कहा है और वहां दर्शन होता है इसका अभिप्राय क्या है ?

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है, कि ॐ अक्षर में चार मात्रा हैं अकार, उकार, मकार और अमात्र, अकार नाम स्थूल संघात् का है और उकार नाम सूक्ष्म संघात् का और मकार नाम कारण संघात् का और अमात्र नाम साक्षी अर्थात् तुर्या का है। अकार के अर्थ समष्टि और व्यष्टि स्थूल अर्थात स्थूल जगत् और स्थूल शरीर है। समष्टि स्थूल जगत् अभिमानी विराट् है और व्यष्टि स्थूल का अभिमानी विश्व है इससे दोनों अभिमानियों की अर्थात् विराट् तथा विश्व की उपाधि स्थूल है इसलिये दोनों एक रूप हैं, उसी प्रकार उकार नाम समष्टि सूक्ष्म जगत् और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का है। समष्टि सूक्ष्म का अभिमानी हिरण्यगर्भ अर्थात् सूत्रात्मा

और व्यष्टि सूक्ष्म का अभिमानी तैजस है इससे दोनों
अभिमानियों की उपाधि सूक्ष्म है इस कारण दोनों भ्र
एक रूप है। उसी प्रकार मकार नाम समष्टि कारण
अर्थात् माया और व्यष्टि कारण अविद्या का है समष्टि
कारण का अभिमानी ईश्वर है और व्यष्टि कारण का
अभिमानी प्राज्ञ है इससे दोनों अभिमानियों की उपाधि
एक रूप है इसीलिये दोनों एक रूप हैं इसी प्रकार
अमात्रा के अर्थ समष्टि स्थूल सूक्ष्म तथा कारण का
प्रकाशक और अधिष्ठान् ईश्वर साक्षी है और व्यष्टि
स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर का प्रकाशक तथा
अधिष्ठान् जीव साक्षी है इससे दोनों साक्षी प्रकाशक
अधिष्ठान् निर्विकार उपाधि से रहित हैं। इसलिए दोनों
एक रूप हैं इस रीति से विराट्, विश्व, हिरण्यगर्भ,
तैजस, ईश्वर, प्राज्ञ तथा ईश्वर साक्षी, जीव साक्षी यहाँ
अष्ट अंगुल प्रमाण है और नाभि कमल के ऊपर हैं
इसका आशय यह है कि सबका नाभि वृत्ति है और
वह वृत्ति दो प्रकार की है एक समष्टि, दूसरी व्यष्टि,
समष्टि का नाम माया है और व्यष्टि का नाम अविद्या
है, और आत्मा दोनों प्रकार की वृत्ति अर्थात् माया तथा
अविद्या से परे अर्थात् ऊपर है वह ब्रह्मात्मा इन दोनों से

परे है इसलिये साक्षी तुम्हारा अपना आप है, आपको साक्षी निश्चय करके अपने आप में स्थित रहो, तुम्हारा कोई प्रमाण नहीं न स्थान है, दृष्टा दर्शन तथा दृश्य से रहित आप अपने स्वरूप में स्थित रहो।

प्रश्न ९५—कौन मनुष्य नीच है कौन ऊंच है?

उत्तर—ऊंच तथा नीच कोई नहीं, यह सब जीव अनन्त को पाने में लगे हुए हैं, जिसने उसको जितना पा लिया है वह उतना ही ऊंचा है और न पाने वाला नीच है ऊंच तथा नीच उस अनन्त को पाने न पाने की अवस्थायें हैं, जैसे विद्यार्थियों को छोटी बड़ी कक्षा में विद्या अध्यन करने से ऊंच नीच उनमें नहीं गिना जाता उसी प्रकार इस संसार रूपी पाठशाला के विद्यार्थी के समान सब जीवों की दशा है, जो मनुष्य सांसारिक वस्तुओं का इन्द्रियों की तृप्ति के लिए उपभोग करता है और अपनी आध्यात्मक उन्नति से रहित होकर पशु जीवन व्यतीत करता है वही नीच है, ऐसा मनुष्य सत्संग के योग्य नहीं, अविद्या रचित् पदार्थों के अभिमानी से साधक् को बचना चाहिये।

प्रश्न ९६—संसार चक्र क्या है और उससे कैसे बचें?

उत्तर—जैसे इस संसार में प्रसिद्ध जो गाड़ी का चक्र है, और चक्र में एक पुट्ठी दूसरा नाभि तीसरा अरा होता है और वह पहिया अर्थात् चक्र लोहे की कीलों से जकड़ा हुआ है, उसी प्रकार माया शक्ति अज्ञान, मूल प्रकृति, अविद्या आदि नामों से वेदान्ताचार्य्यों ने जो कथन किया है, वह अविद्या अर्थात् अज्ञान इस संसार को चारों ओर से घेर कर बैठी है, जैसे गाड़ी का गोलाकार चक्का कीलों से सटा होता है, उसी प्रकार संसार रूपी चक्का भी माया के तीन गुणों से जकड़ा हुआ है, जैसे चक्र में छेद होते हैं उसी प्रकार इस संसार रूपी चक्र में पंचक्लेश तथा विकार रूपी छेद होते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय और पांच भूत तथा १ मन इनका नाम षोड़श विकार है। जैसे गाड़ी के चक्के में अरा होता है उसी प्रकार इस संसार रूपी पहिये में पचास अरा हैं आठ सिद्धि नवतुष्टि अट्ठाईस अशक्ति, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेष यह पांच तरह के क्लेश हैं, अनात्मरूपी शरीर आदिकों में आत्मबुद्धि जो विपर्य्यय अर्थात् मैं शरीर हूँ इस विपरीत बुद्धि का नाम अविद्या है, इसी अविद्या को वेदान्ताचार्य्यों ने तम् वा अज्ञान नाम से कहा है,

विचारहीन पुरुषों के शरीर में जो अहंबुद्धि होती है उसका नाम अस्मिता है इस अस्मिता को ही शास्त्रकारों ने मोह नाम से कथन किया हैं, मोह भी तीन प्रकार का होता है जिसके अन्तःकरण में मोह जितना अधिक होता है उसको उतना ही संसार में नानापने का भ्रम होता है, और वह स्वयं उस आत्मज्ञान को दूर से दूर स्थूल अवस्थाओं में ले जाता है, जैसे जो मूर्ख मनुष्य हैं वह अपने शरीर को ही अहं का लक्ष्यार्थ जानता है, क्योंकि अन्तःकरण का सम्बन्ध शरीर से अभेदता का है, अतः वह शरीर से अभिन्न होकर शरीर को ही अपना आपा जानता है। अर्थात् साढ़े तीन हाथ वाले गोरे कृष्ण शरीर को ही मैं का लक्ष्यार्थ जानता है, और जो इससे भी अधिक मोटी बुद्धि के हैं वह पुत्र कलत्र और अपने संग सम्बन्धियों को ही अपना आपा जानते हैं, क्योंकि यह देखने में आता है कि पुत्र मृत्यु से अपनी मृत्यु अर्थात् हानि समझते हैं, और पुत्र के जीवन तथा उन्नति से अपना जीवन तथा उन्नति मानते हैं, और जो मध्यम श्रेणी के मनुष्य हैं तथा कुछ विद्वान हैं वह उन दोनों मनुष्यों से आगे बढ़ जाते हैं, वह अपने शरीर तथा पुत्रादिकों को ही अपना आपा नहीं

मानते, वरन् अन्तःकरण और परिच्छिन्न व्यक्ति अर्थात् मैं को अपना स्वरूप समझते हैं तथापि यह लोग बोध को अपना स्वरूप नहीं जानते।

वास्तव में यह लोग भी अनसमझ ही हैं, अर्थात् मूर्ख हैं चाहे वह दोनों मूर्खों की अपेक्षा विद्वान् तथा शास्त्रीय समझे जावें तथापि इनका अज्ञान अभी नष्ट नहीं हुवा जिन ज्ञान वालों को पूर्ण संयम् और अभ्यास के पश्चात् पूर्ण युक्तियुक्त मनन से सिद्ध हुई है, और अहं का लक्ष्यार्थ वास्तव अपना ज्ञान स्वरूप आत्मा व साक्षी चैतन्य कूटस्थ है, हमारा स्वरूप ठीक २ यही है, कुछ विचित्र कल्पित सम्बन्ध से अन्तःकरण और अन्तःकरण के गुण तथा शरीर और शरीर के गुण हममें आरोपित हैं, ऐसे विचार युक्त पुरुष ही वास्तव में तत्व ज्ञानी हैं, क्योंकि अज्ञान आवरण इनका दूर हो गया है यह अविद्या की अधिकता तथा न्यूनता का भेद दिखाया है, अविद्या, मोह तथा अस्मिता का वर्णन करके अवराग रूपी क्लेश का कथन करते हैं, विषय सुख के साधन धन आदिक जो पदार्थ हैं उसमें अत्यन्त आसक्ति का होना ही राग को महा मोह भी कहते हैं, और दुखों की प्राप्ति कराने वाले शत्रु, सिंह, सर्प, बिच्छू आदिकों के अनिष्ट

का जो चिन्तवन है उसी का नाम द्वेष हैं। इसी को तामस करके कथन करते हैं, और स्त्री, पुत्र धनादि में जो प्रय पना है उन प्रय पदार्थों के त्याग की अनिच्छा को अभिनिवेष हैं कहते इसी को अनुभवी पुरुषों ने अन्ध तामस नाम से कहा है।

यह पांच प्रकार के क्लेशों का जो वर्णन किया है यही संसार चक्र है। जो मनुष्य इन पंच क्लेशों से मुक्त नहीं हैं अर्थात् माया रूपी प्रकृति जैसे ही परिश्रम करना चाहिये इस संसार को उत्पन्न करे हैं उसी प्रकार प्रकृति ही हमारे आत्मज्ञान को उत्पन्न कर देगी उस आत्मज्ञान की प्राप्ति के वास्ते हमारा प्रयत्न निष्फल है अर्थात् प्रकृति जन्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होने पर अपने को कृतार्थ मानकर अथवा संसार को असार जानकर एवं दुखरूप जानकर संतोष करके पड़े रहना और श्रवण, मनन, निदिध्यासन साधनों से रहित होना ही संसार चक्र है। अथवा शास्त्रों में सन्यास आश्रम को ही आत्मज्ञान का साधन कहा है। और कषाय वस्त्र दंड आदि चिन्हों को धारण करके अपने को कृत कृता मान लेना और ब्रह्मज्ञान के जो साधन हैं उन साधनों में जो पुरुषार्थ है उसको छोड़ देनायही संसार चक्र है।

प्रारब्ध से ही जीव को यश लक्ष्मी, पुत्र, राज्य आदिक पदार्थों की प्राप्ति होती है और प्रारब्ध से आत्मज्ञान अर्थात् मोक्ष मिल जायगा इस दृष्टि से आत्म ज्ञान के लिये परिश्रम न करना अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये आवश्यक नियमों का पालन न करना ही संसार चक्र है। जो मनुष्य श्रोत्रादिक इन्द्रियों को विषयों से रोक कर ही अपने को कृत कृत्य मान लेता है बस यही संसार चक्र है *

सुख तथा दुख रूप फल देने वाले पाप तथा पुण्य रूप दोनों कर्म संसार चक्र के निमित्त कारण हैं और हृदय देश में स्थित आत्मा का विस्मरण कर देना ऐसा जो तमरूप मोह अज्ञान अर्थात अविद्या है वही मोह सर्व संसार में ओत प्रोत है। ऐसे संसार चक्र को प्राप्त हुआ यह विवेकहीन जीव अज्ञानियों की तरह योगादि सिद्धियों में लग पड़ता है माया रूप शक्ति के सम्बन्ध

* और श्रवणादि साधनों से रहित होकर शान्त होजाता है। उस मूढ़बुद्धि पुरुष को कदाचित् भी आत्म साक्षात्कार नहीं होगा क्योंकि इस प्रकार की सन्तुष्टता आत्म साक्षात्कार का विरोधी होने से इस जीव के जन्ममरण आदि रूप संसार के ही कारण हैं। इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को इस प्रकार की संतुष्टता का दूर से ही त्याग करके श्रवण, मनन आदि का साधनों में

से यह जीव संसार चक्र में पड़ कर अर्थात आवागमन को प्राप्त होकर नाना प्रकार के क्लेशों को प्राप्त होता है जो मनुष्य कुतर्की तथा यश और प्रतिष्ठा की इच्छा रखता है और तीनों एषणाओं से युक्त है अथवा गुरू की शरण न जाकर संसारी मनुष्यों को चमत्कार दिखा कर अपनी प्रसिद्धी में लगा हुआ है तथा सकामी अर्थात् भोगों की अभिलाषा करके धर्मों में प्रवृत्त होता है और अपने को ईश्वर से भिन्न जानकर मत मतान्तरों में फंस कर अपने ज्ञान को ऊंची कोटि में दिखाकर संसार को प्रसन्न करता है यही संसार चक्र है, संसारको प्रसन्न करने के यत्न सोचना पुनः उनसे अपनी बड़ाई कराकर प्रसन्न होना और धनवानों से परिचय करने में इधर उधर घूमना तथा नवीन सम्प्रदाय चलाना और अपने को कृत कृत्य मान कर आत्म आचात् के साधनों से वंचित रहना ही संसार चक्र है।

उपरोक्त कथन किये हुए पुरुषों को यह संसार चक्र दिखाई नहीं देता, अर्थात् माया शक्ति देखी नहीं जाती। क्योंकि आवरण विक्षेप आदि गुणों से ढकी हुई है। काम, क्रोधादि अनेक विकार उस माया शक्ति के विक्षेप हुए हुए हैं। और आनन्द स्वरूप आत्मा से प्रकाशित

हुई यह माया शक्ति अपने असत्, जड़ दुख रूपों करके उस सत् चित्त आनन्द रूप आत्मा को ढक लेती है। अर्थात् मोहित करती है। इससे इस माया शक्ति का प्रभाव अत्यन्त आश्चर्य्य रूप है। इसी कारण वेदान्ताचार्य्यों ने इस माया किंवा अविद्या को अघटित घटना पटीयसी नाम करके वर्णन किया है। जीव, ईश्वर और जगत् में जो भेद प्रतीत होता है वह माया की शक्ति से ही प्रतीत होता है। अर्थात् अपने स्वरूप के अज्ञान से होता है। जब जिज्ञासु ईश्वर, जीव और माया अर्थात् जगत् और शुद्ध चैतन्य इन चारों को अपने स्वरूप से अभिन्न करके जानता है तथा अपने प्रत्यक्ष आत्मा को सर्व व्यापक भाव से देखता है तभी यह मुमुक्षु पुरुष आवागमन के संसारी चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस अविद्या तथा माया की अनेक शक्तियां हैं जिन का प्रथम वर्णन कर चुके हैं। यह शक्तियां आत्मज्ञान की अवस्था का नाश करती हैं।

अब उन अज्ञान की शक्तियों तथा आत्मज्ञान की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। इस संसार में पहिले सत् बुद्धि करके पश्चात् अपने शरीर में और स्त्री, पुत्र धनादि में जो आसक्ति है वह अविद्या शक्ति है। इस

अविद्या शक्ति का नाश अभेद ज्ञान से होता है। सम्पूर्ण जगत् हमारा ही स्वरूप है इस चिन्तवन का नाम अभेद ज्ञान है। अभेद ज्ञान की उत्पत्ति से पहिले अधिकारी पुरुष को जैसी पदार्थों में फंसावट होती है वैसी फंसावट अर्थात् आसक्ति अभेद ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मुमुक्षु पुरुष को नहीं होती। इससे यह ज्ञात होता है उस अभेद ज्ञान करके मुमुक्षु पुरुष की कोई अविद्या की शक्ति नष्ट हुई है। इसी कारण से मुमुक्षु पुरुष अज्ञानी जीवों से अर्थात् विषयों में आसक्त प्राणियों से विलक्षण होता है तथा रागद्वेष आदि से रहित हुवा वह अनुभवी पुरुष शान्ति आदि गुणों से युक्त सर्व प्राणियों में मैत्री भाव वाला होता है और जीवों का जो परस्पर भेद है तथा जीव ईश्वर का जो परस्पर भेद है इस प्रकार का भेद प्रतीत कराने वाली जो दूसरी अविद्या की शक्ति है वह अविद्या शक्ति दोनों उपाधियां हटाने से नाश हो जाती है। जैसे संसारी पुरुष 'अपने वर्ण कुल गोत्र आदि जातियों में संशय विपर्यय से रहित होता है उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा (ब्रह्म रूपता) में संशय विपर्यय से रहित होता है और अनात्म पदार्थों में जो अहंमम रूपी कर्म वासना को उत्पन्न करने

वाली जो तीसरी अविद्या शक्ति है वह अविद्या शक्ति निरन्तर अद्वितीय आत्मा का चिन्तन रूप जो आत्म निष्ठा है उसकी उस निष्ठा से अविद्या शक्ति का नाश हो जाता है । जैसे स्वप्न से जागा हुआ पुरुष स्वप्न प्रपंच को नहीं देखता उसी प्रकार स्वयं प्रकाश आनन्दस्वरूप आत्म निष्ठा को प्राप्त होकर शरीरादि प्रपंच को देखता हुआ भी नहीं देखता क्योंकि गुरु और शास्त्रोपदेश से इस सम्पूर्ण जगत् को अपना आत्मरूप करके अनुभव करता है। इस शरीरादि संघात में आत्म बुद्धि करके इस अनित्य संसार पर मोहित होकर मरण पर्यन्त नाना कार्यों में संलग्न रहना ही मूर्खता है अर्थात् संसार चक्र है इस लिये उचित है कि सांसारिक विषयों से वैराग्य अंगीकार करके इसके अधिष्ठान को खोजें अर्थात् विचार करें।

कालरूपी चक्र किस नाभ के आश्रय घूम रहा है और हम सब लोग चक्र में आरूढ़ होकर उस चक्र में आगए हैं । जब तक नाभ का ज्ञान नहीं तब तक चक्र के चक्कर से मुक्त नहीं हो सकते । उस चक्र का नाभ सत् स्वरूप है जिसको भिन्न भिन्न मतों और शास्त्रों में अनेक नामों से वर्णन किया है। उसका ज्ञान प्रपंचरूपी

चक्र से उदासीन होकर चित्त के स्थिर करने पर होता है। जैसे जैसे चित्त आगमापाई संसार के पदार्थों से विरक्त होकर परमात्मा में स्थिति पाता है उसी प्रकार चित्त की चंचलता से निवृत्त होकर एकाग्रता को प्राप्त होता जाता है। जिसका फल शान्ति, तृप्ति, समता आदि प्राप्त होकर चित्त को ब्रह्मानन्द रूप सिंहासन पर विराजमान कर देता है मानों चित्त ब्रह्मीभूत प्रसन्नात्मा होकर चित्त भाव से रहित हो जाता है यही ब्रह्मीभूत अवस्था है मुमुक्षु पुरुषों के हितार्थ संसार चक्र का संक्षेप रूप से वर्णन किया है।

प्रश्न ९७—नास्तिक और ज्ञानी में क्या भेद है?

उत्तर—नास्तिक तत्वों को ही जगत् का उपादान कारण मानता है, और चैतन्य को जो निमित्त कारण है नहीं मानता, क्योंकि नास्तिकता के कारण उसकी बुद्धि स्थूलभाव को प्राप्त हो जाती है वह वेद शास्त्र को नहीं मानता और न ऋषि महात्माओं की बातें ही सुनता हैं, अपनी धींगाधींगी ही हांकता है, और स्त्री पुत्र के नचाये ही नाचा करता है जैसे बन्दर को कलन्दर नचाता है, उसको विषय भोगों का ख्याल लगा रहता है और जो जिह्वा को अच्छा लगे वही ठीक है

विधि तथा निषेध का कोई विचार नहीं पेट भरना और विषय भोगों में रत रहना अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को विषय मानना, उसके विचार से बस मनुष्य जीवन का फल यही है। और ज्ञानी निमित्त कारण को जो चैतन्य स्वरूप है मानता है और जानता है कि जो प्रत्यक्षवादी है उसकी बुद्धि में नियम करके जड़ता आ ही जाती है और उसको स्थूल जगत् ही प्रत्यक्ष होता है इसलिये उसको उसी का अनुभव होता है, जो जड़ है और ग्राह्य इन्द्रियों का विषय है, क्योंकि दिव्य जगत् के। देखने के लिये दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है ऐसी जड़ बुद्धि का काम नहीं है तथा नास्तिक अज्ञान में लौलीन रहता है, भेद बुद्धि, और भेद दृष्टि से मुक्त नहीं होता और ज्ञान वान ज्ञान के विषय लौलीन रहता है तथा सबको अभेद रूप निश्चय करता है।

नास्तिक पदार्थों के विषय में भावना करके पदार्थों का संकल्प करता हुवा दुखी होता है, और ज्ञानी पदार्थों को कल्पित निश्चय करके निर्विकल्प रहता है, नास्तिक अहंता तथा ममता करके अपने बान्धवों के विषय में बन्धुमान रहकर तथा उनकी मोह ममता में पड़ कर नाना प्रकार के क्लेशों को भोगता रहता है और ज्ञानी

अहंता ममता से रहित होकर अपने प्रेमास्पद में चित्त की वृत्ति को लगाकर सर्व क्लेशों से मुक्त रहकर शान्त रूप रहता है, नास्तिक केवल बाहर के स्वभावों को उज्वल तथा निर्मल करने का पुरुषार्थ करता है अर्थात् केवल शरीर, मकान, कपड़े, जूता आदि की सजावट में लगा रहता है और ज्ञानी अर्थात् आस्तिक बाहर की शुद्धि पर अधिक ध्यान न देकर अन्दर के स्वभावों को शुद्ध तथा निर्मल करने का पुरुषार्थ करता है, नास्तिक केवल शरीर को अपना आपा जानता है और ज्ञानी अपने को अशब्द मात्र अस्ति रूप करके निश्चय करता है, नास्तिक जगत के पदार्थों को उत्तम और रमणीक जानकर उनकी प्राप्ति के निमित्त यत्न करता है और ज्ञानी जगत के पदार्थों को केवल प्रवाहरूप निश्चय कर के किसी के अर्थ पुरुषार्थ नहीं करता और सांसारिक पदार्थों को आपात् रमणीय जानकर भी उनकी प्राप्ति का संकल्प भी नहीं करता, अज्ञानी (नास्तिक) पुरुषार्थ को मुख्य समझकर और ईश्वर की मर्य्यादा को न जानकर सम्पूर्ण कार्य्यों में शीघ्रता करता है और यदि स्त्री तथा पुत्र को रोग हो जावे तो अपने धन के मद से वैद्य डाक्टरों से चिकित्सा कराता है और मन में उनके दुखी

होने से दुखी अशान्त तथा व्याकुल रहता है। ईश्वर के न्याय को न समझ कर चिकित्सकों को ही सब कुछ समझ लेता है संसार में सूखे पत्ते की तरह भटकता रहता है शान्ति कदापि नहीं पाता और ज्ञानी ईश्वरेच्छा को मुख्य जानता हुआ और अपने प्रारब्ध को सामने रखता हुवा भगवत् स्मरण करता हुआ बेपरवाह रहता है, और सर्वकाल शान्ति, धैर्य्य, अचिन्ता, निर्विकल्पतासे सम्पूर्ण संसार के सर्व काम धार कर सम्पूर्ण कार्य पहले से ही सिद्ध हैं ऐसा जानता है।

केवल परिच्छिन्न बुद्धि तथा अल्प दृष्टि करके असिद्ध ज्ञात होते हैं, अज्ञानी, नास्तिक, परिच्छिन्न अभिमानी, परिच्छिन्न साधनों करके मूर्खता से क्षण २ में दुखी होता है, और पूर्ण दर्शी पूर्ण दृष्टि को धार कर अपने पुरुषार्थ के अभिमान से रहित ईश्वर की इच्छा पर छोड़कर ममता और अभिलाषा से रहित होकर अपने आप में स्थित रहकर आनन्द और शान्ति के साथ अपने आप में मग्न रहता है, और भूत भविष्य की परवाह न करते हुए यह गाता है कि (होगा वही जो राम रचि राखा) नास्तिक को शास्त्र चर्चा तो अच्छी लगती ही नहीं और न सत्संग न प्रेम भक्ति और न नाम

में उसकी रुचि होती है वह तो दूसरों को भी मना करता है और ज्ञानी शास्त्र चिन्तन सत्संग प्रेमभक्ति का रस पान करता हुवा दूसरों को भी प्रेरणा करता है अज्ञानी अर्थात् नास्तिक अनात्म दृष्टि धारण कर किसी को अपना किसी को दूसरा किसी को शत्रु किसी को मित्र मानता है। और ज्ञानी आत्म दृष्टि धारण कर सर्व को अपना आत्मा निश्चय करता है, अज्ञानी केवल विषयों के संग से आनन्द का अनुभव करता है और ज्ञानी विषयों के संयोग के विना अपने आत्मा को आनन्द रूप जानता है। नास्तिक सिनेमा तथा नाच गाने में अपने मन को प्रसन्न रखता है। और आस्तिक भगवान के स्मरण तथा भगवान की कथा कीर्तन में अपने मन को प्रसन्न रखता है। नास्तिक की वृत्ती कठोर पत्थर के समान होती है और ज्ञानी कीवृत्ति नम्र रसमई होती है नास्तिक परलोक जन्म-मरण नर्क-स्वर्ग जीव- ईश्वर बन्ध तथा मोक्ष भाव का निश्चय करता हुवा लौकिक तथा व्यवहारिक चातुर्य्यता से युक्त धनसंग्रह करने में प्रवृत्त रहता है। और ज्ञानी यथार्थ ज्ञान् के बल से लोक परलोक जन्म मरण नर्क स्वर्ग जीव ईश्वर बन्ध मोक्ष के अभाव का निश्चय करता हुवा लौकिक तथा व्यवहा-

रिक चातुर्य्यता से रहित होकर अर्थात् उपरामता को प्राप्त होकर धन-संग्रह से रहित होता है।

नास्तिक ताश, चौपड़, जुवा आदि में काल को बिताता है और ज्ञानी रामकथा, वेदान्त ग्रन्थों का अवलोकन करके समय को बिताता है, नास्तिक को अनेक प्रकार की घटनाओं के सुनने तथा कहने में बड़ा आनन्द आता है इसके व्यवहार का कोई नियम नहीं रहता, यह ईश्वर, भगवती गङ्गा, ब्राह्मण, सन्त आदि किसी को नहीं मानता और अपने अहं में दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखता है यह खाट कुर्सी पर बैठे, लेटे हुए अनेक प्रकार के मनोराज्यों द्वारा दूसरों के छिद्रान्वेषण करता है और अपने दोषों को छिपाता है नास्तिक की बुद्धि माइक भास से अन्धी हो जाती है इस लिये वह हित की बात नहीं समझता, यदि दैवयोग से कष्ट आन पड़े तो काल कर्म आदि के सिर मढ़ देता है उन दुःखों को अपने पाप कर्मों का फल नहीं जानता जो कि अपना हित, अनहित, पुण्य, पाप कर्मों करके होता है, दूसरों से नहीं, और ज्ञानी अपने व्यवहार को लोकमर्यादा के अनुसार वर्तता हुआ न ऊंच देखता है और न नीच, और यदि दैवयोग से कोई कष्ट आजावे

तो उसको अपने पापकर्मों का प्रायश्चित जानता है किसी के सिर दोष नहीं मढ़ता, उसकी बुद्धि में सुख दुःख समान रहता है, उसकी वृत्ति चिन्ता विलाप से सर्वदा शून्य रहती है, वह सुख दुःखों को अपने आत्म रूप में ही देखता है और आत्मा में सब को और सब को आत्मा में देखता हुआ सर्वातीत रहता है।

नास्तिक को जितने भी भोग मिलते जावें उसकी कामना निवृत्त नहीं होती अर्थात् असन्तोष ही रहता है और ज्ञानी विवेक विचार से काम लेता है इसलिये उसे थोड़े से भोग मिल जायें तो सन्तोष कर लेता है। नास्तिक अपने को शरीरमात्र निश्चय करके शरीर पर्यन्त अपना होना निश्चय करता है और ज्ञानी अपने को चिदाकाश रूप निश्चय करके अपने को अविनाशी सत्, चित्, आनन्द अच्युत, बोधस्वरूप मानता हुआ अपने अद्वैतानन्द के दर्शन में मग्न रहता हुआ यह साम गान गाता है कि 'मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ' मुझे अब कुछ करना शेष नहीं, मेरा अज्ञान भाग कर कहीं चला गया, संसार में मेरी शांति की उपमा नहीं है मुझ को ब्रह्मानन्द स्पष्ट अनुभव होता है।

प्रश्न ९८—ब्रह्म की पुरुष रूप से कल्पना क्यों

की गई ?

उत्तर—मनुष्यों की उपासना की सुविधा के कारण से. इसी को सम्पद् उपासना भी कहते हैं। निकृष्ट पदार्थों में उत्कृष्ट पदार्थ का आरोपण करके जिस स्थान में आलम्बन का तिरोधान होकर आरोप की ही प्रधानता रहती है उसी को सम्पद् उपासना कहते हैं। विश्व आत्मा पुरुष का मस्तक दिव्यलोक, चक्षु,चन्द्र, सूर्य, श्रोत, दिशा प्राण वायु, पाद पृथ्वी हैं। इस प्रकार अंगों की कल्पना के द्वारा पुरुषरूप का ध्यान करने के लिये उपदिष्ट हुआ है, यह पुरुष अधिदैवत रूप है और व्यष्टि पुरुष का शरीर ब्रह्म का अध्यात्म रूप है। अध्यात्म अवयवों में चक्षु, नासिका आदि और अधिदैवत रूपों में सूर्य आकाश आदि का आरोप्य करके अभिन्न भाव से उपासना अथवा भावना करने का उपदेश किया गया है। फल इसका यह होता है कि अपना अर्थात् उपासक को व्यष्टि शरीर का स्वरूप तो छुप जाता है और उसके बदले विश्वरूप ही अपने आप को देखने लगता है। इस प्रकार के अभ्यास विश्व की भावना परिपक्व हो जाने से हम में और जगत् में भिन्नभाव का ज्ञान नहीं रहता और जगत् तथा

उसके पदार्थों की अपने आत्मा से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता का बोध नहीं होता तब अद्वैत बोध हो जाता है इस लिये पुरुष रूप से इसकी कल्पना है और पुरुष रूप की श्रेष्ठता है।

प्रश्न ६६—यज्ञोपवीत के तीन तार, तीन ग्रंथी तथा उलटा वंटा क्यों होता है और द्विजों के लिये ही क्यों है ?

उत्तर—तीन तार और तीन ग्रन्थी का आशय यह है कि तीन वर्ण और तीन आश्रमों में ही धारण किया जावे, चौथे आश्रम अर्थात् सन्यास में और चौथे वर्ण अर्थात् शूद्र जाति इसको धारण न करे, उलटा वंटा होने का कारण यह है कि यह उन्हीं मनुष्यों का भूषण है कि जो कर्मादि बहिरंग साधनों में प्रवृत्त हैं अर्थात् जो अनात्म पदार्थों में अहं और मम करके अहंकारी है, मायां के अनुसारी तथा तीनों गुणों से संयुक्त हैं अर्थात् वासनायुक्त हैं किंवा उनके अन्दर हैं वेदान्त जो अंतरंग है और जो त्रिगुणातीत का विषय है तथा जो तीनों ऐषणाओं से मुक्तहै।

उसके विरुद्ध जो सन्सार के बहिरंग साधनों और धर्मों से बंधे हुए तथा उनके अभिमानी हैं और ब्रह्म·

प्राप्ति की जिज्ञासा उत्पन्न करके तथा गुरु की शरण में जाकर तत्व का साक्षात् करके स्व स्वरूप को प्राप्त होकर तीनों गुणों से मुक्त हुए हैं जिनका अनात्म अभिमान नष्ट होकर अहंकार का विध्वन्स हो गया है जिनको तुर्यातीत सन्यास की प्राप्ति हुई है वह परमात्मा में उस के समान सीधे रहते हैं। इस दशा में उनको इस भूषण की आवश्यकता नहीं रहती वह बहिरंग धर्मों की मर्यादा से रहित होते हैं अर्थात् वेदान्त के द्वारा यथार्थ तत्व को जानकर अन्तरंग सिद्धि से बहिरंग जो सन्सार उस के बन्धन के धर्मों से मुक्त होते हैं इसी प्रकार इसकी तीनों लड़ी तीन २ तारों से युक्त है कि तीनों वर्ण आश्रमों के धर्म रखता हुआ त्रयवर्णी मनुष्य अमात्रक ओम् को जानकर ब्रह्म की अद्वैतरूपता को प्राप्त हो।

इन तीन लड़ियों के अनुसार प्रत्येक स्थल में तीन का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, जैसे तीन ऋण देव, ऋषि, पितृ द्विजातियों के तीन चिन्ह शिखा, सूत्र मेखला, द्विजातियों का ध्येय कर्म, उपासना, ज्ञान तीन अवस्थायें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ इन सबका ग्रहण परमार्थसिद्धि के लिये ही है। इससे भिन्न इनका तात्पर्य कुछ नहीं परन्तु यह स्मरण रहे कि जो त्रैवर्ण तथा

तीन आश्रम वाले बिना साधन चतुष्टय के वेद-शास्त्र और वर्णाश्रम की मर्यादा से रहित होंगे वह नास्तिक तथा पतित समझे जायंगे, इसलिये जब तक मनुष्य को तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न न हो तब तक सांसारिक धर्मों की मर्यादा से उलंघित न हों अर्थात् जैसे क्षुधानिवारण के लिये भोजन किया जाता है उसी प्रकार जो ईश्वर प्रति- पाद्य है उसके साक्षात्कार के निमित्त शुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता है, वेद भगवान् ने अन्तःकरण की शुद्धि के लिये सम्पूर्ण धर्मों का विधान किया है न कि उनका (धर्म) अभिमानी बनकर सांसारिक विषयों में फंस कर मनुष्य जीवन के लक्ष्य से दूर हो जाना, इस प्रकार पेट भर कर सो रहने वाले, मनुष्य जन्म के फल से सर्वथा वञ्चित रहकर अविद्यारूपी दोषों से अविच्छिन्न नेत्र वाले उस जगत् जन्य आदि कारण परं ब्रह्म को नहीं जान पाते।

प्रश्न १००—वेदों में चतुर्दश विद्या का निरू- पण है सो क्या है ?

उत्तर—चार वेद, चार उपवेद और षट् शास्त्र यह सब मिल कर चौदह विद्या होती हैं, इनके अन्दर समस्त विद्यायें बीज रूप से और वृक्ष रूप से स्थित हैं।

और इन ही के धनुर्वेद, आयुर्वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्ति, व्याकरण, ज्योतिष् छन्द भी हैं। यह बात ध्यान रखनी योग्य है कि वेदों में सारी विद्यायें बीजरूप से उपस्थित हैं। उन को परमात्मा ने दूसरे ऋषियों द्वारा उपवेद में वृक्षरूप से बनाया है इसी प्रकार ऋषियों से वेदांग प्रकाशित हुए हैं और जिस प्रकार वेदांग प्रकट हुए है उसी प्रकार ऋषियों द्वारा परमात्मा ने उपनिषदांग को अर्थात् दर्शनों को भी प्रकाशित करवाया है। जिस प्रकार वेद बीजरूप उपवेद वृक्षरूप हैं इसी प्रकार वेदांग बीजरूप और उपवेद वृक्षरूप हैं अर्थात् विज्ञानरूप वृक्ष के वेद मूलरूप हैं और उपवेद शाखारूप हैं वेदांग पुष्प तथा पत्ररूप हैं और उपनिषदांग फलरूप हैं। जिन मनुष्यों ने केवल मूल संहिता का पाठ किया है और उपांगों का अध्ययन नहीं किया वह मनुष्य फल से वञ्चित रहता है जिस प्रकार वृक्ष के मूल पर बैठा हुआ शक्तिहीन पुरुष।

इसी प्रकार वेद शास्त्र सृष्टि में बीज रूप से उपस्थित है और सृष्टि वृक्ष रूप से है अर्थात् जो विद्यायें वेदों में हैं उन विद्याओं के ज्ञाता जगत में वृक्ष के समान हैं

वह विद्वान् वेदों के विरोधी नहीं और न वेद उन का विरोधी है। परस्पर अनुकूलता होने के कारण दोनों का अविरोध है इसलिये मनुष्यों को परस्पर प्रीती पूर्वक वर्तना चाहिये तब ही सबको आनन्द की प्राप्ति होगी। यह जो कहा जाता है कि वेद तो ईश्वर कृत् हैं और शास्त्र ईश्वर कृत् नहीं यह कथन अयथार्थ है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि ही ईश्वर कृत् है तो शास्त्र ईश्वर कृत् क्यों नहीं जिस प्रकार की शक्तियों से ईश्वर ने वेदों को प्रकाशित किया उसी प्रकार की शक्तियों से शास्त्रों को प्रकाशित किया है अर्थात् जिन ऋषियों से वेदों का प्रादुर्भाव हुवा है वह ऋषि ईश्वर की शक्ति भूत थे। वैसे ही वृक्ष रूप बनाने के लिये जितनी शक्ति की आवश्यकता थी उसी के अनुसार शक्ति रूप ऋषियों को प्रगट करके उनसे वृक्ष रूप करा दिया जिस प्रकार ईश्वर ने वेद शास्त्र सृष्टि में बीज रूप से प्रगट किये हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि को वृक्षरूप से बनाया फिर उस वृक्षरूप सृष्टि के पदार्थ ईश्वर कृत् क्यों नहीं अतः चाहिए कि

नोट—संसार में सारे मनुष्य एक पाठशाला के विद्यार्थी हैं, जिसमें अष्ट श्रेणी हैं, मुसलमान, इसाई, जैन, बौद्ध, पौराणिक, समाजी, भक्त, जिज्ञासु तथा जीवन मुक्त।

ईश्वर का जानने तथा मानने वाला ईश्वर कृत् पदार्थों से द्वेष न करे वरन् उनकी संगति करके आनन्द की प्राप्ति का लाभ उठावे, भारतवर्ष के सच्चे पारस पत्थर यह वेद, शास्त्र, वेदान्त आदि ही हैं जिसके लोहे रूपी बन्धजीव स्पर्श करतेही स्वर्ण रूप हो जाता है अर्थात् प्राकृत रूप से ब्रह्मरूप हो जाते हैं।

प्रश्न १०१—भगवान का अवतार क्या है क्या निराकार भगवान साकार हो जाता है ?

उत्तर—अवतार के अर्थ उतरने के हैं और उस का यह आशय है कि कोई देवता विशेपरूप से अपने मंडल से उतर कर भूमंडल पर आता है परन्तु संसार के पालन पोपण तथा स्थिति का काम विष्णु भगवान से होता है इसलिये अवतार' विशेपकर विष्णु भगवान का ही माना जाता है यह विष्णु अवतार संख्या में दस हैं। जिससे इस कल्पित संसार में जब किसी प्रकार का अत्याचार वा अन्याय पूर्ण रूप से फैल जाता है जैसे कि राज्य कर्मचारी रिश्वत लेने लग जाते हैं तथा चारों वर्ण के मनुष्य अपने २ नियत कर्मों तथा धर्मों से च्युत हो जाते हैं अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करके राजा तथा प्रजा अन्याय पर कमर बांध लेते हैं यह नियम है कि

न्याय व सत्य छूट कर असत्य तथा अन्याय की वृद्धि होती है। उस दशा में प्रजा में हा हा कार मचना आरम्भ होने लगता है उस काल में प्रत्येक प्राणी को यह इच्छा होती है और उनके चित्त में निरन्तर यही भाव गुंजारने लगते हैं कि विष्णु भगवान शरीर धारण करके सबके दुखों को दूर करें।

प्रथम यह विचार थोड़े से मनुष्यों के अन्तःकरण में उत्पन्न होता है फिर धीरे २ अपने आप बहुत मनुष्य उनकी तरफ को खिंचने लग जाते हैं तत्पश्चात् उनके विचारों की धारा से आकाश मंडल गुंजारने लगता है।

क्योंकि यह ईश्वरीय सृष्टि का नियम है, कि जहां कोई विचार किसी मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हुआ उसी के विचारानुसार उससे सम्बन्ध रखने लग जाते हैं अर्थात् दूसरे लोग भी परवश हो सच्चे हृदय से सहायता देने वाले उसकी ओर खिंचते हैं। और जब असंख्य प्राणियों की विचारधारा एक कर एक केन्द्रिभूत हो जाती हैं अर्थात् सच्चे संकल्प अथवा विचार विष्णु लोक में जाकर टक्कर खाते हैं तो वह विचारों का समुदाय कुछ काल तो सूक्ष्मभाव को धारण करता है (जैसे गर्भ में बच्चे) तत्पश्चात् वह विचार समुदाय जो विष्णु भग-

वान की ही एक शक्ति है मनुष्य रूप में अवतार लेती है अर्थात् प्रगट होती है और काटछांट करके संसार का भार उतार देती है क्योंकि जैसा तुम लोग सोचते हो वैसा ही हो जाता है। इस अवतार को तुम लोग साधारण इस कारण से नहीं कह सकते कि असंख्य मनुष्यों के शुद्ध संकल्प मात्र से भूमण्डल पर उसका प्रादुर्भाव हुआ है उसमें बहुत अधिक शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है और भक्त जनों की सात्विक पुकार है।

इसलिये भक्तजन उसकी महिमा के गीत गाया करते हैं भगवान निराकार अव्यक्त अजन्मा होते हुए भी अपने भक्तों की इच्छा पूर्ति के लिये अपने ईश्वरत्व भाव को न छोड़कर साकार भाव को धारकर प्रगट हो जाते हैं। वास्तव में भगवान् न साकार हैं न निराकार और यदि निराकार हैं तो साकार भी हैं और इन दोनों संकल्पों से परे भी हैं। यह अवतार इसी प्रकार संसार में हुआ करते हैं और होते रहेंगे और जो लोग इनकी पूजा करते हैं वह इनके लोकों को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न १०२--भूतनाथ शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर--किंचित् ध्यान देकर सुनो तथा पढ़ो कि तुम ही भूतनाथ हो, भला कैसे जादू टोने के आचार्य

भूत, प्रेत के मालिक अर्थात् न्यायक विश्वनाथ शंकर भोलानाथ का श्मशान भूमि में निवास है अर्थात् मर्घट स्थान में रहते हैं। जहां पर दूसरा कोई नहीं रहता अर्थात् शंकर भोलानाथ बाबा को मुर्दघट्टी अधिकतर रुचिकर है, किन्तु कभी कभी वह श्मशान रंगभूमि चेतती है अर्थात् उसमें क्षोभ होता है। तब उस शून्य भूमि में से भूत उठ खड़े होते हैं। और शिवशंकर भोलानाथ बाबा को नृत्य दिखलाते हैं, और फिर सब भूतों की सृष्टि लयभाव को प्राप्त हो जाती है, और शिवशंकर स्वयं ही निःशेष रह जाते हैं। हे जिज्ञासुओं यही दृश्य तुम लोग नित्यप्रति करते अथवा देखते हो, इसलिये तुम ही शिव हो। विचार दृष्टि से देखो तो सुषुप्ति की अवस्था जो कि जीवितपने का कारण शरीर अहंकार है वह श्मशान भूमि है तुम वहां रहते हो निद्रा की दशा में तुम श्मशानवासी हो, तुम्हारे सिवाय वहां कोई दूसरा नहीं होता। निद्रा की दशा में तुम केवल शिव हो, और स्वप्न तथा जाग्रत में तुम भूतनाथ हो (अर्थात् श्मशान) जब चेतता है अर्थात् जगमगाता है तब हे भूतनाथ तेरे चारों ओर तेरे गणभूत कोई तो गर्दभ मुख, कोई ऊंट मुख, कोई बन्दर मुख, कोई कैसा कोई

कैसा अर्थात् चौरासी लक्ष योनियों के शरीर श्मशान से प्रगट होकर और पुनःलय होकर सुपुप्ति रूपी श्मशान को शून्य रूप में छोड़ देते हैं केवल एक तत्व शिवरूप से शेष रहता है अर्थात् तुम्हीं रहते हो श्मशान चमकने के समय सब प्राणी जो चलते फिरते खाते पीते दीखते हैं वह यथार्थ में मुर्दे हैं अर्थात् केवल प्रतीतमात्र हैं क्यों कि सुपुप्ति अवस्था में नहीं रहते, और तुम आत्मदेव शिवस्वरूप से तथा द्रष्टा साक्षी रूप से रहते हो, और यह महा अघोरी इन्द्रियां तुम श्मशान वासी के कुत्ते कुतिया हैं और शरीर जितने हैं वह श्मशान भूमि में चितायें हैं अर्थात् शव हैं, इंन्द्रियां, मन, तथा बुद्धि आदि कुत्ते कुत्तियां लाशों पर डटे खड़े हैं, और शरीर रूपी लाश का भक्षण कर रहे हैं शरीर रूपी चिताओं में पड़े हुये (अर्थात इनका अभिमान करने वाले) मुर्दो भागो, यह शरीर मुर्दा है यह हाड मांस रक्त, मज्जा, चर्बी, मल तथा मूत्र वाला शरीर तुम नहीं हो, तुम इस में से निकल कर (अर्थात् अभिमान त्याग कर) उठ खड़े हो इस शरीर रूपी चिता में पड़े हुए हो, अर्थात् इसका अभिमान करके तो तुम मुर्दे ही रहोगे, इसलिये शीघ्रता के साथ इस मुर्दे शरीर से बाहर निकल जाओ, अर्थात्

इसका अहंकार त्याग करो, क्योंकि यह तो जड़ तथा दृश्य है और तुम चैतन्य तथा द्रष्टा हो अतः इस शरीर रूपी चिता में से प्रथक हो। जिसने इस प्रकार दृढ़ निश्चय किया मानो चिता के ऊपर पानी फिर गया।

उसने अपनी मस्ती का राग गाना प्रारम्भ किया और घर से बेघर हुवा, करना था सो कर लिया पाना था सो पा लिया, जिनको लोकों की कामना हो वह धर्म कमाये, मुक्त विश्वरूप आत्मा को कोई कर्तव्य नहीं इसी लिये तो हिन्दुओं में जलती लाश पर पानी डालते हैं अर्थात् अब आगे तुम्हारा जन्म न होगा और तुम निश्चल हो जावोगे, स्वरूप निश्चल तो है ही, शरीर, मन, तथा बुद्धि के सम्बन्ध करके अपने को वैसा मान लेते हो शरीर और शरीर के धर्म जो काला, गोरा दुबला मोटा आदि हैं उसके सम्बन्ध करके वैसे ही हो जाते हो इसी प्रकार यदि इन्द्रियों में कोई विकार हो तो उसके सम्बन्ध करके वैसा ही मान लेते हो अर्थात् मैं काना, आंख हीन, बधिर, लूला तथा लंगड़ा हूं इत्यादि, और मन तथा बुद्धि के सम्बन्ध से अपने को संकल्प विकल्प कर्ता तथा बोधवान तथा मूर्ख मान लेते हो, इनमें से तुम एक भी नहीं हो तुम्हारा इनसे कल्पित

सम्बन्ध है। आंख देखती है उस समय भी तुम उसको जानते हो और जब नहीं देखती उस समय भी तुम उस को जानते हो, क्या इस न्याय तथा विवेक से तुमको आत्मा के स्वरूप का बोध नहीं होता, कि मैं इन सबसे घट द्रष्टा की नाई पृथक् हूं। देखो बचपन आया और गया उसके पश्चात यौवन अवस्था आई और गई तुम वह के वही, जागृत अवस्था आई और गई तुम वह के वही स्वप्न आया और गया तुम वह के वही, सुषुप्ति आई और गई तुम ज्यों के त्यों, तुम इसको जानते हो और इसके विषय में चर्चा भी करते हो तो क्या तुम यह हो ? नहीं तुम इस शरीरादि से पृथक हो, यह तुम्हारे रूप नहीं, मदारी ने तमाशा दिखाया और अनेक प्रकार की वस्तुयें बनाई एक से एक विचित्र जिसने भी देखा वही चकित, देखो मेरा तेरा पना जो है वही जीव का बन्ध है तथा वही संसार है इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है।

देखो संसार एक धर्मशाला है कुछ काल के लिये एकत्र हो गये हैं शरीर, मन, वाणी को आत्मा में जोड़ कर एक रूप बन जाओ, खाने तथा पीने में शरीर पेट के आधीन न रहो तुम लोग अपने स्वरूप को पहिचानो

और पहिचांन कर मस्ती में आकर यह गाओ।

अहं ब्रह्मास्मि कस्य शोको जगदस्त्येव न पुनः।
किमनुष्ठन्तु का लज्जा मानं किञ्च भयन्तु किम्॥

अर्थात् मैं ब्रह्म हूं जगत् है ही नहीं फिर शोक कैसा, भय क्यों, लज्जा क्या, मान क्या, अभीष्ट क्या अर्थात् कुछ नहीं।

प्रश्न १०३—ज्ञान की सात भूमिका वालों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर—साधकों को प्रथम भूमिका के चिन्ह बतलाते हैं। उसके अन्तःकरण में यह बात गुंजारने लगती है कि हे अन्तर्यामी परमात्मा विश्व पालक अनाथों के नाथ मुझको संसार के बन्धन से मुक्त करो मुझको इस संसार का कभी दर्शन न हो अर्थात् मरने के पश्चात् मेरे को गर्भ में न आना पड़े कुछ २ वैराग्य के उदय होने से संसार के जो विषय स्त्री पुत्र धनादि हैं उनमें उसकी अरुचि होने लगती है अर्थात् राग की रश्मियां ढीली पड़ जाती हैं। वह अपनी विद्या तथा सुकृति का डङ्का नहीं पीटता, और सम्मान पाने के लिये कोई दम्भ भी नहीं रचता, विवेकी वैराग्यवान् निस्पृह पुरुषों का संग भाने लगता है, ज्ञान शास्त्रों में पढ़ने की रुचि होने

लगती है अपने को किसी से श्रेष्ठ नहीं जानता क्रोध लोभ मत्सर किसी से राग किसी से द्वेप इन भावों में जिसको स्वभाव से ही ग्लानी उत्पन्न हो गई है । यह प्रथम भूमिका वाले के चिन्ह हैं ।

दूसरी विचार नाम की भूमिका वाले पुरुष के चिन्ह यह हैं । ईश्वर कौन है जीव क्या है माया क्या है यह संसार कहां से आया बन्ध तथा मुक्ति का क्या स्वरूप है द्वैत क्या वस्तु है और अद्वैत कैसे प्राप्त होता है ? तथा नित्य और अनित्य पदार्थों को प्रथक प्रथक अच्छे प्रकार जानने लगता है, और नित्य आत्म वस्तु को ही सत्य समझने लग जाता है, और जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में उदासीनता धारण करने लग जाता है, और सम्पूर्ण आरम्भों में दोप दर्शन करने लग जाता है इस दूसरी भूमिका से कुछ अहंता ग्लानि प्रारम्भ हो जाती है जैसे सूर्य के उदय होने से वर्फ का गलना प्रारम्भ होता है, शुभ इच्छा तथा विचारना नाम की दोनों भूमिकाओं के अभ्यास करने से तनुमानसा नाम की तीसरी अवस्था स्वयं आने लगती है, तनुमानसा नाम की तीसरी अवस्था आने पर बुद्धि का प्रकाश होता है, अर्थात् कुछ रजोगुण के और कुछ तमोगुण के अंश

नष्ट हो जाते हैं सतोगुण का प्रकाश होता है जैसे अन्धेरे मकान में बैठा हुआ मनुष्य जब कुछ काल तक मकान की वस्तुओं को ढूंढ़ने लगता है तो वहां पर वह वस्तुएं दीखने लगती हैं।

इसी प्रकार वह जिज्ञासु संसार की स्थिति को देख कर चकित सा होजाता है, उसके मन में व्याकुलता सी रहने लगती है विवेक तथा वैराग्य के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं वह चैन नहीं लेने देते कहीं आत्म साक्षातकार हुए विना ही मेरा शरीर न छूटजावे मुझको अपने स्वरूप की प्राप्ति कब होगी जबकि मेरे को यह अज्ञान रूपी संसार दुखी न कर सकेगा, इस भूमिका में आने पर अधिकारी की कुछ ऐसी दशा हो जाती है कि जो भोग प्रारब्ध वश उसे प्राप्त हो जावें कि जिससे प्राण तथा शरीर सुरक्षित रह सकें उन पर ही संतोष कर लेता है, अधिक को निषेध सा ही जानता है चित्त की ऐसी उदार स्थिति हो जाती है और संसारी मनुष्य जब उसकी निन्दा या बड़ाई करने लगते हैं तो वह लज्जित सा हो जाता है और आवश्यकता से अधिक किसी का प्रतिग्रह भी स्वीकार नहीं करता उसमें गीता के अध्याय तेरह के जो लक्षण साधन सम्पन्न के अमानित्व अदंभित्व आदि

कहे हैं उसमें वह सब स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं वह अपनी विद्या का चातुर्य छिपा जाता है अपना महत्व विसार देता है वह अपने अभ्यास की महिमा नहीं बखानता उसको एकान्त सेवन में बहुत रुचि रहती है अर्थात् अपने गौरव को ऐसे छिपाता है जैसे कि धर्मी पुरुष जंगल में आ फंसने पर डाकुओं के बीच में अपना बड़प्पन छिपा जाता है।

और इस तीसरी भूमिका वाली मुमुक्षु की बुद्धि में यह भाव प्रगट होते हैं कि पता नहीं आत्म सुख में कैसा आनन्द होता होगा, यह विचार विचारकर वह मुमुक्षु की बुद्धि ब्रह्मानन्द सुख की अप्राप्ति के कारण कुछ बेचैन सी हो जाती है, और वह मुमुक्षु बुद्धि आत्म सुख की विशेष इच्छा से भोग के साधनों से विरक्त हो जाती है, और कभी २ आत्म सुख के साधनों में भी क्लेश का अनुभव करती है यह दोनों अवस्थाएं बार २ साथ ही साथ आती रहती हैं वह मुमुक्षु बुद्धि शेष रजो गुण के कारण मूढ़ होने से विषय सुखों का सर्व प्रकार से त्याग नहीं कर सकती इसी कारण से इस भूमिका में आत्म सुख का अनुभव नहीं होता परन्तु उस मुमुक्षु की बुद्धि में सुख तथा आनन्द की जो अभिलाषा रहती है

यही एक मात्र चिन्ह है जो वह अपने प्रियतम स्वामी आत्मदेव की ओर प्रेम भरी दृष्टि से बार २ देखती तो है किन्तु पूर्व वासना के कारण कभी २ विपरीत भावना कर बैठती है।

तनुमानसा नाम की तीसरी भूमिका के अभ्यास से जब रज तथा तम नष्ट हो जाते हैं पश्चात् निदिध्यासन नाम की सत्वापत्ति चौथी भूमिका शुरू हो जाती है इसके शुरू होते ही देवता विघ्न डालते हैं, अपने विभूति तथा अपने ऐश्वर्यों का प्रलोभन देने लग जाते हैं, यदि इनमें फंस गया तो मुमुक्षु पुरुष का पतन होजाता है, और यदि तीव्र वैराग्य तथा जिज्ञासा धारण किए हुये इनका निरादर कर दिया तो वेदान्त उपदेश का अधिकारी हो जाता है अर्थात् मुमुक्षु पुरुष बार २ यही विचार किया करता है कि मैंने वेदान्त ग्रंथों का अभ्यास अच्छे प्रकार कर लिया अब मुझको ग्रंथ छोड़ कर ब्रह्म अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि भ्रमर को पुष्प की गन्ध ले चुकने के पश्चात् रसपान में भी अधिक आनन्द होता है।

और मैं तो नित्य हूँ मैं तो शुद्ध हूँ, मेरा मोह तथा अज्ञान् भाग कर कहीं चला गया और उस अज्ञान का

पुत्र बन्धन भी अब नहीं है, मेरा कोई वर्ण तथा आश्रम नहीं न मेरा कोई माता पिता है मैं तो संसार का पालक तथा पोषक सबका माता तथा पिता हूं, यह सम्पूर्ण सृष्टि मेरे संकल्प तथा फुरना करके है इस प्रकार की अन्तः स्फूर्ती सत्वापत्ति वाले पुरुष को बार बार हुवा करती है, और कर्ता भोक्ता तथा जन्म मृत्यु आदि विकारों को अपने से प्रथक् चिदाभास अर्थात् जीव के माना करता है वह अपने स्वरूप को इन सब विकारों से रहित ही निश्चय करता है और अपने को माया के स्पर्श से ऐसे बचाता है जैसे ब्राह्मण चांडाल स्पर्श से बचता हो, और जागृत अवस्था में उदासीन हुवा अर्थात् निष्प्रयोजन होकर इस संसार को इस प्रकार से देखने लगता है जैसे कोई स्वप्न जगत् को जागृत होकर तुच्छ समझ कर देखता हो, जैसे भृंगी की ध्वनि को सुन कर कीड़ा भी गुंजारने लगता है और गुंजारता हुआ वह उसके ही रूप को धारण कर लेता है, इसी प्रकार सत्वापन्न पुरुष अपने देह रूपी बिल में ठहर कर उस देह के सन्मुख बैठकर और गुरु रूपी भ्रमर की "अहं ब्रह्मास्मि" इस महा वाक्य की ध्वनि को सुन कर मैं ही ब्रह्म हूं, इस प्रकार की आवृत्ति रूप में गुंजारने लगता है।

. और उस ध्वनि से वह फूला नहीं समाता परन्तु यह स्मरण रहे कि यह वृत्ति ठहरने नहीं पाती, मुमुक्षु को सावधान रहना चाहिये अर्थात् अभ्यास न छोड़ दे और न किसी प्रकार का आरम्भ रचे, और अपने ज्ञान के घमंड में कहीं दूसरों का तिरस्कार न करने लगे, यदि अभ्यास बराबर करता रहा तो अभ्यास के बल से असन्सक्ती नाम की पांचवीं भूमिका प्राप्त हो जावेगी इसमें आकर देवता आदि कोई भी विघ्न करने को समर्थ नहीं, इसी को सूफी लोगों ने मार्फत् नाम से कहा है और वेदान्ताचार्य्यों ने इसी को साक्षात्कार वा अपरोक्ष ज्ञान कहा है भागवत् आदि में इसी को परम प्रेमाभक्ति नाम से वर्णन किया है। इस अवस्था को वेदान्त ग्रंथों में सुषुप्ति की प्रथम अवस्था अर्थात् सिथिल निद्रा माना है। इस अवस्था वाले की वृत्ति अपने प्रेमास्पद ब्रह्मानंद में पग जाती हैं। अर्थात् चैतन्य मई हो जाती है, और विश्यरूप द्वैत का प्रकाश सर्वथा बन्द हो जाता है। सत् और चित् की मात्रा का तिरोभाव होकर आत्मा के आनन्द की स्फूर्ति अधिक तर होने लगती है वह विश्व और ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं देखता, जैसे काष्ट की पुतली और काष्ट में कुछ भेद नहीं, और परमार्थिक

ब्रह्मत्व की दृढ़ स्मृति उत्पन्न होकर अपने में जो जीवत्व (अर्थात कर्ता भोक्ता आदि देह भाव) का आरोप्य या ख्याल था। उसकी विस्मृति हो जाती है। और राग द्वेष आदि विकार बुद्धि रूपी पृथ्वी पर उसी समय गिर पड़ते हैं।

उस दशा में किसी की स्तुति करने पर वह प्रसन्न तो नहीं होता। और रुष्ट करने वाले प्रसङ्ग से उसको कुछ विषाद नहीं होता और संसार के समस्त कार्यों से वह बेपरवाह सा हो जाता है। और अपने आप में रमण करके मस्त रहता है उसको वह आनन्द आता है कि जो वाक्य तथा इन्द्रियों से वर्णन नहीं हो सकता अपने हाल में सरमस्त रहता हुआ खुद मस्ती में आप ही स्वयं हंसकर नाच कूद लेता है। खूब गुलछर्रे उड़ाता है माने भूतावेश जैसे उसके सर पर आ गया हो। वह अब इन्द्रियों के धोखे में नहीं आता और न मन के नचाए नाचता है अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता है। ब्रह्मादि पदवियों को तुच्छ दृष्टि से देखता है और इनकी दशा पर सोच करता है कि यह बेचारे देवता लोग आत्म सुख को क्या जानें, यह तो तुच्छ विषय भोगों की अभिलाषाओं को सब कुछ मान बैठे हैं।

यह पांचवीं भूमिका वाला मुनि आत्म साक्षात्कार के कारण इन तुच्छ विषयों की अभिलाषा को त्याग कर निर्द्वन्द हो जाता है और उसका मन सदा शान्त रहने लगता है। क्योंकि जब तक मनुष्य को करने कराने का खयाल है तब तक वह बन्धन में है उसे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। इस पांचवें भूमिका वाले योगी का महामोह नष्ट हो जाता है और वह जीते जी अक्षय आनन्द का उपभोग करता है। यह इसकी निरङ्कुश शान्ति है। इसी को वेदान्त ग्रन्थों में अमरपद व मोक्ष नाम से कहा है। प्रथम की पांचों भूमिकाओं का अभ्यास करते करते पदार्थ अभावनी नाम की षष्टी भूमिका कि जिसमें नाम रूप का परमार्थिक स्फुरण समाप्त हो जाता है अर्थात् संसार असत् है और ब्रह्म सत्य है इस प्रकार की वृत्ति ने जो कोलाहल मचा रखा था वह वृत्ति की उछल कूद शान्त हो जाती है और उसमें विषयों की स्फूर्ति अच्छे प्रकार से बन्द होजाती है और सम्पूर्ण दुखों की प्रतीति बन्द होकर केवल आनन्द मात्र की ही व्याप्ति रह जाती है। पालकी पर चढ़े हुए धनी लोग जिस प्रकार सोते हुए ही चलते फिरते रहते हैं। उसी प्रकार यह छटी भूमिका वाला मुनि अपने

आनन्द का अनुभव करता है। संसारी सुख तथा दुख आदि विषयों से सुप्त सा रहता है और इस शरीर रूपी पालकी को इसके अहंकार आदि सेवक ही चलाते रहते हैं और आत्म आनन्द से परिपूर्ण यहे आत्मज्ञान जब उदय होता है तब यह अपूर्ण संसार भी अर्थात् मन, बुद्धि इन्द्रिय, शरीर आदि स्वयं ही पूर्णता को प्राप्त होने लगते हैं। पदार्थ अभावनी नाम की छटी भूमिका को अतिक्रमण करके योगी तुर्या अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

जाग्रत स्वप्न आदि की अपेक्षा यह तुर्या सातवीं अवस्था कहलाती है। कोई इसको गूढ़ सुषुप्ति भी कहते हैं इसी को स्वरूप स्थित भी कहते हैं यदि विष्णु शिव आदि से इस सप्तमी भूमिका के लक्षण पूछे जावें तो वह भी मौन हो जाते हैं। श्रीराम ने वशिष्ट मुनि से ब्रह्म का स्वरूप पूछा वह मौन हो गए। श्रीराम को सन्देह हुआ और कहा कि आप मेरे प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ नहीं अथवा मेरे को योग्य न समझा। मुनि ने कहा कि हे राम यह तेरे प्रश्न का उत्तर है-हे राम! ब्रह्म का स्वरूप मौन है मौन उस अवस्था को कहते हैं कि जो वाक्य तथा विचार से परे हो बोलने से उस अनन्त

शब्द प्रवाह का तार टूट जाता है। मौन अवस्था में इस परिच्छिन्न मैं का लोप हो जाता है फिर कौन कहे, कौन सोचे, जिसकी गति स्थित रूप हो जाती है जिसका जागना निद्रा रूप हो जाता है और निद्रा बोधरूप बन जाती है और सम्पूर्ण कर्मों को ब्रह्म रूप जानने लगता है विश्व आनन्द रूप से प्रतीत होने लगता है। उस दशा में कैसे और किन शब्दों से प्रगट करे कि मैं ब्रह्म हूं। वरन् सर्वखल्विदंब्रह्म कहता है अतः ब्रह्म अनुभव का आस्वादन करते हुए भी उसको मौन ही रहना पड़ता है और मौन रहना ही समता का चिन्ह है। क्योंकि ब्रह्म भी सर्वत्र मौन होकर सम रूप से स्थित है, उस समय बुद्धि आदि मौन हो जाते हैं क्योकि शम ब्रह्म रूप को विपम वाणी के द्वारा प्रगट करना असम्भव है उस समय मन, वाणी आदि सब वक्ता के स्वरूप हो जाते हैं। इसी मौन में से जब जब इच्छा उत्पन्न होती है तब तब सम्पूर्ण वाणी तथा मनों का उदय होता है अर्थात् मौन रूप ध्यान में ही अनन्त शब्द की ध्वनि का प्रवाह है इसलिये यह संसारी वाणियां तो अपरमार्थिक हैं असली वाणी तो यह मौन ही है।

ब्रह्म वक्तुं न जानाति यथात्यन्तजड़ो जनः।
तथैवात्यन्तबोधात्मा ब्रह्म वक्तुं न बुध्यते॥

अर्थ–जिस प्रकार अत्यन्त जड़ मनुष्य ब्रह्म का वर्णन नहीं जानता ठीक उसी प्रकार अत्यन्त ज्ञानी अर्थात् सातवीं भूमिका वाला भी वाणी से ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकता। जिज्ञासु पुरुष का जितना व्यवहार क्षय होता है उतनी ही उसकी स्थिति की वृद्धि होती जाती है और तत्पश्चात् सहज समाधि में स्थिति होगी। अब पूर्व के प्रकरण को खोलते हुए जिज्ञासुओं के लिये शान्ति देते हैं। जिज्ञासा विचारना तनुमानसा नाम की यह तीनों भूमिकायें अर्थात् अवस्था जाग्रत कहलाती हैं और सत्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका स्वप्न है। साधकों को यह चारों अवस्थायें न्यून अधिक रूप से साधन रूप ही हैं और पांचवी से लेकर सात तक सिद्धि अवस्थायें हैं। सत्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका के प्राप्त होने पर जगत की सत्यता का ख्याल दूर हो जाता है और संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है तथापि बोधवान को यह अवस्था रुचिकर नहीं होती क्योंकि यह निष्ठा कोई उच्च कोटि की नहीं है। इसलिये साधक को यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि हमको पूर्णत्व

की प्राप्ति हो गई अब करना कराना शेष नहीं यह ज्ञान उनका पूर्ण शान्ति परक नहीं है, अतः साधक को उचित है कि लौकिक तथा पारलौकिक कार्यों में न उलझ कर अगली तीन भूमिकाओं को अवश्य प्राप्त करे वह तीनों सिद्धि अवस्था तीन प्रकार की होती हैं। लौकिक सुपुप्ति की प्रथम शिथिल अवस्था है, उसमें जो सुख होता है घन सुपुप्ति में भी उतना ही सुख होता है और उतना ही गाढ़ सुपुप्ति में भी होता है। इन तीनों प्रकार की निद्रा में आनन्द अनुभव एक ही प्रकार का होता है, किन्तु अभ्यास की न्यूनता अधिकता के कारण कोई साधक अधिक काल तक आनन्द का अनुभव करता है कोई न्यून काल तक परन्तु प्रत्यच अनुभव में किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं होती। जब साधक को पहिले पहल तुर्या अर्थात् ब्रह्म आत्म स्वरूप का साचात् होता है, तो वृत्ति कुछ काल आनन्द से भर जाती है, जैसे सूर्य ताप से तपा हुआ मनुष्य गंगा में प्रवेश कर पुनः २ गोते लगाता है और आनन्द का अनुभव करता है इसी प्रकार वह वृत्ति साची रूपी गंगा में गोते लगाती है और आनन्द अनुभव करती है।

प्रश्न १०४--भक्ति का मुख्य स्वरूप क्या है उसके द्वारा समाधि सिद्ध हो सकती है या नहीं ज्ञान और भक्ती में क्या अन्तर है ?

उत्तर--भक्ति का मुख्य स्वरूप यही है कि अपना सम्पूर्ण अनुराग खिंच कर अपने प्रेमपात्र के ही रूप में इकट्ठा हो जाय तथा वह भक्त अपने प्रेमपात्र में तन्मय हो जाय भक्ति ईश्वर में (सम्बन्धी) परं अनुराग या प्रेम पैदा करा देती है। भक्ति ईश्वर में अनन्य प्रेम युक्त अनन्य ममता अनुभव कराती है यह वह प्रेम है कि जिसमें केवल अपना प्रेमपात्र ही अपना आप प्रतीत होता है जिसमें जगत् जीव तथा अपने प्रेमपात्र की अपने से पृथक सत्ता नहीं रहती (या यों कहो कि भगवान के सिवाय अपनी सत्ता नहीं रहती) भक्ति ईश्वर सम्बन्धी स्वयं अनुभव अनुराग है जिसमें अपना इष्ट विषय अपना प्रेमपात्र है और उसमें भक्त अथवा तत्ववित तन्मयता को प्राप्त होता है अर्थात् वह अपने से भिन्न दूसरे की प्रतीति का सर्वथा अभाव निश्चय करता है भक्ति का मुख्य स्वरूप तो यही है किंवा यह प्रेम (भक्ति एक मात्र) का परं उत्कर्ष है और यही

अनुराग की सीमा है भक्त अपने प्रेमपात्र के चिन्तन में डूबा रहता है।

यह ईश्वर भक्ति की प्राप्ति मुख्य हृदय का भाग है। यदि यह कहो कि भक्ति कितने प्रकार की है तो भक्ति दो प्रकार की है। एक साधन रूपा भक्ति दूसरी सिद्ध रूपा भक्ति ईश्वर की उपासना निष्काम कर्म अपने २ वर्णाश्रमों के धर्मों का पालन करते हुये अपने वर्तमान जीवन को उन्नति शील बनाना यह भी एक प्रकार की साधन रूपा भक्ति है इसको ही अपरा तथा गोणी भक्ति कहते हैं। गोणी भक्ति की प्राप्ति के लिये स्मरण कीर्तन सत्संग आदि भगवान की लीलाओं का श्रवण करना जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है अर्थात् विरोध, घमंड, ईर्षा, क्रोध, अभिमान, तथा दम्भ आदि सम्पूर्ण मनोविकार निवृत हो जाते हैं। यह साधन रूपा भक्ति ही विकसित होकर लीलाधारी भगवान में प्रेम उपजाती है अर्थात् आनन्द को प्रगट करती है मन की सम्पूर्ण वृत्तियां जो बाहर की ओर लगी हुई होती हैं अर्थात् जगत के फैलाव में आगई हैं उनको भक्त जब अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा यत्न पूर्वक अन्दर की ओर लाता है उस काल में सर्व वृत्तियां इकट्ठी होकर

ईश्वर भक्ति में पहुंचती हैं क्योंकि वृत्तियों को जगत के फैलाव अर्थात् संसारी विषयों में लगा देने से हम अपना जीवन नास्तिक भाव में ले जाते हैं जिसका फल नाना प्रकार के दुखों का कारण बनकर महा नीच गति का प्राप्त होना है और जब अपना जीवन ईश्वर भक्ति में पहुंच जाता है तो अमर फल प्राप्त होता है।

दूसरी परा भक्ति जो भगवान के प्रति अत्यन्त प्रेम को विकसित कर देती है यही परा भक्ति परं ज्ञान तथा निर्गुण भक्ति आदि नामों से कही गई है जिसका फल आनन्द ही आनन्द है अर्थात् सत्, रज, तम से रहित है। यही एकान्तिक ससुखं नाम से गीता में भगवान ने कही है। इस परा भक्ति में अर्थात् अहेतुकी भक्ति में अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता मनुष्य का परंधर्म यही है जिसमें ईश्वर के विना अपना कोई प्रयोजन न रहे। प्रेमी तथा प्रेमपात्र का भेद अभेद की कल्पना कोई न रहे जो भगवान है सोई भक्त है जो भक्त है सोई भगवान है भक्ति के द्वारा ही समाधि सिद्ध होती है। समाधि अवस्था में साधक साम्यभाव को प्राप्त होता है और उसका अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्ति के फैलाव की अवस्था में अन्तः

करण बाहर की ओर होकर तन्मात्राओं की सहायता से इन्द्रियों में और इन्द्रियों के विषयों में प्रवेश होकर सृष्टि का काम करते हैं।

समाधि अवस्था में ऐसा नहीं होता वरन् समाधि अवस्था में अन्तःकरण अपने ही स्वरूप में रहता है और तन्मात्रा तथा इन्द्रियां भी उसी प्रकार अपने २ स्वरूप में स्थित रहती हैं और संसार में लगा हुआ जो अन्तः करण है वह अपने चार रूप (मन, बुद्धि, चित्त, अंहकार) आदि से बनकर अपने २ कार्यों के द्वारा सृष्टि को बनाते हैं। मन संकल्प विकल्प करने में, बुद्धि सोचने में, चित्त चिन्तवन करने में, अंहकार अविद्या के बल से अहं त्वं अर्थात् बड़ा छोटा ऊंच तथा नीच आदि करने में लगे रहते हैं, परन्तु समाधि में ऐसा कदापि नहीं होता। उस दशा में वह अपने स्वरूप में लय होकर अपने २ कार्य को भूल जाते हैं तथा उसी प्रकार उनका सृष्टिरूप अन्तःकरण अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है और भगवत्भक्ति प्राप्ति के कारण समाधि करने वाले का अन्तःकरण समाधि में स्थित होने पर निर्मल तथा शुद्ध होकर भगवत् भाव रूपी सूर्य का प्रकाशक स्वयं ही हो जाता है। इसी कारण से भगवत्

भक्त में अंहकार रूपी अविद्या आदि नाश को प्राप्त हो जाती है। यदि भक्त में यह भ्रम हो जाय कि यह कह कर भक्ति करें तथा यह बन कर भक्ति करें अथवा दूसरों की प्रसन्नता के लिये किंवा अपनी प्रशंसा के वास्ते भक्ति करें ऐसा भक्त भक्ति से पतित हो जाता है। भक्त न तो पद्मासन बांधकर बैठता है, न दोनों हाथ जोड़कर और न प्राण को चढ़ा कर उसका चित्त तो संकल्प तथा विकल्प से रहित अपने प्रेम पात्र में संलग्न रहता है वह अन्य को नहीं जानता उस करके उसकी बुद्धि सम हो जाती है उसी को पंडित जन समाधि कहते हैं।

ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं भक्त का भगवान के प्रति यह भाव रहता है मैं तेरा दास हूं, तेरा सेवक हूं तथा जो कुछ जैसा कुछ हूं तेरा हूं। भक्त सब अवस्थाओं में भगवान को ही देखता है उसमें विषय बुद्धि नहीं होती भक्ति में भक्त अपने प्रेमपात्र के सिवाय मुक्ति को कोई वस्तु नहीं समझता। इसके विपरीत ज्ञानी की यह दृष्टि रहती है कि मैं तुही हूं और तू मैं ही हूं। इतना कुछ ज्ञान तथा भक्ति में परस्पर भेद होते हुए भी परिणाम दोनों का तुल्य ही है (अर्थात् मैं

तू का अधिष्ठान एक ही है और वही शब्दातीत सत् वस्तु है। ईश्वर में भक्ति करने से भक्त को जो रसास्वाद मिलता है वही रसास्वाद ज्ञान करके ज्ञानी को मिलता है और साधन भी दोनों के तुल्य ही हैं। तत्वचित्त को यही अनुभव होता है कि मैं स्वयं अपना आप मुक्त स्वरूप हूं जो इन दोनों में भेद जानते हैं वह धोखे में हैं क्योंकि जीव दशा अर्थात् द्वैतवाद ही दुखदाई है जन्म से मरण तक अपार दुख हैं उनको भूलकर परमात्म रूप होजाना ही जन्म मरण के चक्कर से छूट जाना है।

ज्ञान के पश्चात् वा अपराभक्ति के पश्चात् आनन्द किंवा प्रेम को पान करके दोनों ही अपनापन भूल जाते हैं दोनों का यह अहं स्फुरण स्वयं भगवान हो जाता है यही भक्ति अथवा ज्ञान के परे की मुक्ति है उसी आनन्द रूप सत्ता का पान करके महान् पुरुष अपनी मस्ती में मस्त होकर विचरते हैं। भक्ति के ग्रन्थों में उसी को प्रेमानन्द पद तथा वेदान्त ग्रन्थों में उसी को अद्वैत आनन्द नाम से वर्णन किया है जिस सुख में मैं पन का लेश भी नहीं रहता अर्थात् अविद्या आदि का (जो कि जीव को प्रेम पात्र से भेद करके संसार चक्र में डालती थी) सर्वथा नाश हो जाता है। यदि ज्ञानी में अपने ज्ञान का

अहंकार है और भक्त में अपनी भक्ति का अभिमान है तो वह ज्ञानी ज्ञानी नहीं और भक्त भक्त नहीं अतः ज्ञानी तथा भक्तों की एक ही चित्त भूमि है परमात्मा और भक्त परंतत्व और ज्ञानी भगवान जगत गुरु शिष्य यह सब कहने मात्र ही दो दो शब्द हैं परन्तु वास्तव में एक ही हैं। संसार, ईश्वर, जीव त्रिविध रूप से कथन करना केवल जिज्ञासु के प्रति है यथार्थ में परंब्रह्म किंवा प्रेमानन्द के सिवाय और कुछ नहीं है।

प्रश्न १०५—प्रकृति से पृथक रहकर हमको स्वतन्त्रता का अधिकार कैसे प्राप्त हो तथा कलियुग में पाप में प्रवृत्ति क्यों होती है अथवा अधर्मी लोग क्यों अधिक फलते तथा फूलते हैं ?

उत्तर—प्रकृति के कार्यों के साथ सम्बन्ध जोड़ने से मनुष्य परतन्त्रता के अधिकार में आ जाता है और प्रकृति के कार्यों से प्रथक होते ही मनुष्य स्वतन्त्र हो जाता है। इस प्रकार से दोनों का रूप प्रथक २ स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु इनमें से हम जब तक परमात्मा से प्रेम नहीं कर पाते तब तक हम जगत अर्थात् स्त्री पुत्र धनादि से अपनी प्रीति नहीं हटा सकते तब तक बन्धन में हैं। ईश्वर के सहारे के बिना हम संसार बन्धन से

किसी प्रकार नहीं छूट सकते (मुक्त नहीं हो सकते) जो कुछ भी ईश्वर में गुण है वह ईश्वर की आज्ञा पालन करके ही हम में आ जाते हैं जैसे प्रकृति (माता) के नियमों का उलंघन करके तथा जगत के अवगुणों को धारण करके हम प्रकृति के कार्यों में वन्धायमान अर्थात् फंस कर परतन्त्र हो जाते हैं अर्थात् इन्द्रियों के धोखे में आकर विषयों के आधीन (गुलाम) हो जाते हैं तत्पश्चात् नाना प्रकार के दुख तथा क्लेशों को उठाते रहते हैं। अतः स्वतन्त्रता से जीवन धारण करने वाले प्राणी को परं आवश्यक है कि वह दैवी सम्पत्ति को धारण करे। आसुरी सम्पत्ति को सर्वथा त्याग कर ईश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त प्रकृति के बंधनों से छूटने का और कोई सुगम उपाय नहीं है।

स्त्री पुत्र धन राज्य आदि से लेकर परलोक के विषय तथा सर्व प्रकार की कामनाओं का त्याग करके वैराग्य तथा विचार का आश्रय लेने पर स्वतन्त्रता का अधिकार अपने आप स्वयं आ जाता है। कलियुग में तमोगुण के प्रधान होने से जिसका कार्य आलस्य और प्रमाद है पाप में रुचि अधिक होती है, उस तमोगुण प्रधान प्रकृति का स्वभाव ही है कि मनुष्य कर्तव्य कर्म

से विमुख हो जाता है तथा उससे परिवश हुए मनुष्य की शास्त्रानुकूल स्वधर्म में रुचि नहीं होती। स्वधर्म को त्यागकर परधर्म को ग्रहण करने से दुख पर दुख आते रहते हैं। जैसे प्रत्येक जाति वाले मनुष्य अपनी २ जाति में ही सत्कार पाकर सुखी होते हैं इसी प्रकार कलियुग जाति वाले मनुष्य कलियुगी आचरण करने से कलियुग रूपी राजा को प्रिय लगते हैं इसीलिये फलते फूलते दृष्टिगोचर होते हैं जिसका परिणाम महान् दुख है। जैसे कोई मनुष्य अपने बच्चे को ममता मोह तथा प्रेम के कारण धार्मिक शिक्षा न देकर उपेक्षा करता है पश्चात् उसका फल महान् दुख उठाता है और फिर पश्चाताप करने लगता है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति परिणाम शील है जैसे शरीर की चार अवस्थायें होती हैं।

चौथी जो वृद्ध अवस्था है उस वृद्ध अवस्था में बुद्धि न रहने के कारण तथा तृष्णा के बढ़ जाने से कर्तव्य कर्म का ज्ञान नहीं रहता और सर्व इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होकर अन्यथा होजाती है नाना प्रकार के रोगों का प्रादुर्भाव होने से महान दुख प्राप्त होकर शरीर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति की चार अवस्था हैं कलियुग चौथी वृद्ध अवस्था के समान है इस

में नाना प्रकार के मतमतान्तर द्वारा परस्पर राग द्वेष रूपी अग्नि भड़कने लगती है इन्हीं राग द्वेष रूपी रोगों के कारण प्राणियों की पाप में प्रवृत्ति होती है। अविचारी मनुष्यों को वह प्राणी फलते तथा फूलते दृष्टिगोचर होते हैं। यदि यह शंका करो कि अधर्म की प्राप्ति कैसे होती है इसका उत्तर यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सबसे प्रथम उसका मन प्रवृत्त होता है और उस विषय को प्राप्त कर पश्चात् उसको भोगने पर मन को विषय के प्रति राग तथा द्वेष होजाता है जिसमें राग होता है उसको प्राप्ति करने के निमित्त मनुष्य प्रयत्न करता है और पुनः लम्बे चौड़े कार्यों का आरम्भ करता है। आरम्भिक कर्म दोष युक्त होने से कर्ता को भी दोषी बनना पड़ता है क्योंकि उन आरम्भिक कर्मों में कर्ता को अहं मम करके आसक्ति होजाती है और आसक्ति के कारण अपने अभीष्ट विषयों का बार २ सेवन करने लगता है और बारम्बार सेवन से उस विषय में राग बुद्धि हो जाती है तथा उस विषय में फंस जाने के कारण लोभ तथा मोह रूपी कंटक बढ़ते हैं।

इस प्रकार राग द्वेष के वश होकर लोभ मोह रूपी

कंटकों से दुखित होकर उस मनुष्य की बुद्धि उलटा सोचने लगती है (कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य) उसकी बुद्धि धर्म में लगती ही नहीं यदि वह धर्म करता भी है तो कोरा बहाना मात्र होता है उसकी तह में स्वार्थ छिपा रहता है वास्तव में वह मनुष्य धर्म के द्वारा व्यौपार आदि से अपने नाम की ख्याति चाहता है और जब धर्म की आड़ में व्यौपार से अर्थ की प्राप्ति तथा ख्याति होने लगती है तब वह उस कार्य में लौलीन हो जाता है अर्थात् उसमें रम जाता है। फिर उस संग्रह किये हुए धन से उसके हृदय में पाप करने की इच्छा जाग्रत हो जाती है और जब कभी कोई उसके मित्र तथा विद्वान पुरुप उसको उस कर्म से वर्जते हैं तो वह अपने कार्य की पुष्टि में शास्त्रीय प्रमाण देने लगता है जो वास्तविक शास्त्र के विरुद्ध होता है और उस लोभ तथा मोह के वश से राग द्वेष के कारण तीन प्रकार के पाप आरम्भ होने लगते हैं। वह प्रथम तो मन से पाप का चिन्तन करता है फिर वाणी से कठोर भाषणादि करके पाप कमाता है तत्पश्चात् क्रिया द्वारा भी वह पाप का ही आचरण करता है अर्थात् जिससे शरीर की पुष्टी हो ऐसे कार्यों में प्रवृत्त

रहने लगता है अपने शरीर के पालन पोषण तथा सुन्दर बनाने की चिन्ता में ही काल को समाप्त करता है। शरीर के दुर्बल होने के भय से तितिक्षा और व्रत आदि को छोड़ देता है इस प्रकार का आचरण करने से अधर्म उसके पीछे लग पड़ता है और अपने ही जैसे स्वभाव वाले मनुष्यों से उसकी मित्रता होने लगती है।

यदि कोई शुभ गुण उसके अन्दर हो तो भी कुसङ्ग करने से नाश को प्राप्त हो जाता है और पीछे लगे हुवे पाप से इस लोक में दुख भोगता है तथा पर-लोक में दुर्गति को प्राप्त होता है क्योंकि यह नियम है कि इन्द्रियों का साथ देने से सब प्रकार के दोष इकट्ठे हो जाते हैं और दोष इकट्ठे होने पर बुद्धि मारी जाती है। वह शुद्ध भावना उत्पन्न नहीं करती वरन् शास्त्र विपरीत लोक विरुद्ध शिष्टाचार रहित इन्द्रिय लोलुपता आदि भावना उत्पन्न कर शास्त्र विरुद्ध उसका आहार तथा व्यवहार कराने लगती है शास्त्रों के आचार्यों को ढोंगी बताकर उनकी मसखरी उड़ाते हैं तथा गंगा स्नान देवालय आदि की निन्दा करके दूसरों को भी उपरोक्त कर्म करने से रोकते हैं और साधु ब्राह्मणों की बात न मानकर अनेक प्रकार का प्रलाप करने लगते हैं इस

संसार में नियमानुसार उसका न्याय देखने में आता है अतः प्रकृति के साथ २ काम करने वाली शक्ति अवश्य चैतन्य माननी पड़ेगी जो सम्पूर्ण संसार के पदार्थों को नियम में रखते हुए कार्य का वस्त्र धारण कर कारण रूप से छिपी हुई है। उस चैतन्य शक्ति के नियम को उलट पलट करने में कोई भी समर्थ नहीं जैसे अग्नि को कोई वायु नहीं बना सकता, आम का वृक्ष आम का ही फल देता रहता है अमरूद का नहीं, एक ही क्यारी में तरबूज़ तथा प्याज है किन्तु तरबूज़ अपने स्वभावानुसार पृथ्वी से मिठास को खींच लेता है और प्याज अपने स्वभावानुसार उसी पृथ्वी से दुर्गन्ध को खेंच लेती है अर्थात् अनुकूलता का ग्रहण और प्रतिकूलता का त्याग यह उस चैतन्य शक्ति करके ही होता है।

यदि तुम यह कहो कि प्रकृति तथा चैतन्य दोनों सत् माननी पड़ेंगी और वेदान्त में केवल आत्मा को सत् तथा जगत को असत् माना है और आप (महात्माजी) उसी को विवेक कहते हो यह क्यों कर हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि आचार्यों ने यथार्थ वस्तु का ही निरूपण किया है यदि किसी को सत् और किसी को असत् मानोगे तो उस सत्ता में सम्पूर्णता न आ जायगी

और अपूर्णता आने से वह सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता तथा जो सर्वज्ञ नहीं वह पूर्ण और अनन्त नहीं। जीवों की बुद्धि में विशेष करके असत्पने की दृढ़ता हो गई है तथा जगत के सत्पने का ख्याल दृढ़ हो चला है। इस कारण सत् का यथार्थ स्वरूप ज्ञात कराने के लिये ही आचार्यों ने साधन रूप से सत् तथा असत् के निर्णय को ही विवेक माना है ऐसा करके वह बुद्धि की विवेक शक्ति को जाग्रत करना चाहते हैं जिससे जिज्ञासु लोग परमार्थ तत्व का ठीक ठीक अवलोकन कर सकें. वास्तव में तो केवल सत् मात्र ही है उस सत् की ही अध्यात्म आदि रूप से अनभूति हो रही है।

जब तुमने प्रकृति (माद्दे) के साथ चैतन्य शक्ति को माना तो यह भी अवश्य मानना पड़ेगा कि इस प्रकृति का ज्ञान उस चैतन्य शक्ति को ही है तुम्हारे मत के अनुसार जिन २ नाशवान् पदार्थों का ज्ञान होगा वह इसी तरह होगा जैसा कि स्वप्न के पदार्थों का होता है और ज्ञान होने का कोई प्रकार नहीं तुम स्वप्न नित्य प्रति देखते हो। हाथी सामने खड़ा है चण में गायब हो गया और उसकी जगह घोड़ा उत्पन्न होगया फिर उसी जगह मनुष्य उत्पन्न हो गया। बताओ यह स्वप्न की

वह मिट्टी ही होगी सोना चांदी नहीं आम या अमरूद नहीं बन सकती ।

महाराज क्या हम इतनी बात को भी नहीं जानते ?

जब तुम यह मानते हो कि मनुष्य में ज्ञान शक्ति है पंच भूतों के संयोग से उत्पन्न हुई है तो तुमको यह भी मानना पड़ेगा कि जिन वस्तुओं को खा, पीकर मनुष्य का शरीर बनता है उन सब वस्तुओं में भी ज्ञान है क्यों कि यदि उन वस्तुओं में ज्ञान न होता तो वह ज्ञान जो है कहां से आता देखो यह शरीर कार्य है और भिन्न के पदार्थ उसका कारण हैं। मनुष्य सब वस्तुओं को खाता है और उन सबके खाने से शरीर बनता है इन दो बातों में से एक बात अवश्य माननी पड़ेगी या तो उन पदार्थों में पूर्व से ही ज्ञान विद्यमान था या उन सबके मिलने पर ज्ञान उत्पन्न होता है यदि पूर्व पक्ष को मानोगे तो सब ज्ञानी होने चाहियें, उत्तर पक्ष मानोगे तो असत् से सत् की उत्पत्ति होवेगी यह तर्क के विरुद्ध है और आप तर्क वाले हैं ।

बाबू जी—आपने ठीक कहा मेरी बुद्धि में आपकी युक्ति बैठ गई कि चैतन्य शक्ति प्रत्येक वस्तु में है, नहीं तो मनुष्य पशु आदि में कहां से उत्पन्न होती ?

महात्मा–तुम तो केवल पंच तत्वों को ही मानते थे अब तो एक चैतन्य शक्ति को और मानने लगे।

बाबू जी-शक्ति के मानने में मुझे कोई हट नहीं भेद है तो इतना है जिसको आप चैतन्य कहते हो वह शक्ति की ही एक सूरत है।

महात्मा जी हंस पड़े और कहने लगे कि तुम्हारे विचार में पंच भूत अर्थात् प्रकृति वह वस्तु है जिस में चैतन्य शक्ति हो।

बाबू जी–देखिये महात्मा जी मैंने प्रकृति के साथ शक्ति कहा है चैतन्य को आपने अपनी ओर से बढ़ा दिया। महात्मा जी हंस पड़े और बोले कि तुमने ही चैतन्य शक्ति तथा शक्ति की एक दशा बतलाई थी इस लिये हमारी और तुम्हारी मानी हुई शक्ति में क्या अन्तर रहा? यदि प्रकृति के साथ केवल शक्ति को ही मानोगे तो इस जगत का पालन पोषण तुम्हारे मत में क्यों कर होगा? प्रकृति (माद्दे) में केवल शक्ति ही काम करे तो इस संसार का कार्य अन्धी प्रकृति से होना चाहिये यदि ऐसा हो तो अन्धी तोपें इसमें कार्य करती दृष्टि आयेंगी कोई प्रकृति इधर को कोई उधर को रेलपेल करले जायगी और किसी प्रकार का भी न्याय न रहेगा परन्तु

प्रकार उन लोगों के पीछे निरन्तर पाप लगे रहते हैं।

प्रश्न १०६—भौतिक वादी कहता है कि आत्म वस्तु पंचतत्वों से पृथक नहीं और न जगत असत्य है।

उत्तर—तुम लोग नास्तिक (चारवाक) हो क्या तुम लोगों को अपने धर्म तथा आध्यात्मिक उन्नति की शिक्षा नहीं दीगई ? आजकल के बाबू पार्टी के (फैशन के गुलाम) लोगों में पश्चिमी शिक्षा के कारण दृष्टि में जड़ता आगई है। वह प्रत्यक्ष वादी हो गए हैं इस लिये तुम लोगों को उसी का अनुभव होता है जो जड़ है तथा वाह्य इन्द्रियों का विषय है। दिव्य जगत देखने को दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है लीलाधारी भगवान की कृपा से जिन पुण्यात्माओं को यह दिव्य दृष्टि मिली है उनको उसका अनुभव होता है। उनको तो उस दिव्यलोक की अपेक्षा यह स्थूल जगत सर्वथा तुच्छ दिखाई देता है। उनको यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इस जगत की सत्ता और प्रवृति पूर्णरूप से दिव्य जगत के आधीन हैं जो सत्तामात्र है उस सत की ही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन तीन प्रकार से अनुभूति है अध्यात्म जो सबका सार है वही सबका अधिष्ठान है जिस प्रकार समस्त संसार आकाश में है उसी प्रकार अध्यात्म ही अधिभूत और

अधिदेव का आधार है तथा वह आकाश के समान निर्विशेप और निश्चल है वेदान्त शास्त्र उस निर्विशेप परंतत्व को जो किसी इन्द्रिय का विषय नहीं अध्यात्म रूप में ही दिखाता है। भौतिकवादी धर्म कोई वस्तु नहीं और न कोई परंतत्व वस्तु है. यदि कोई वस्तु होती तो उसकी शिक्षा भी होती जहां तर्क की कसौटी पर कसी गई और आपके अध्यात्मवाद का कथन खतम। यदि कोई वस्तु हो तो प्रत्यक्ष कराओ आप तो शरीर और आत्मा का भेद मानने वाले हैं हमको तो तुम्हारा आत्मा इस शरीर से पृथक नहीं दीखता। जिसको आप लोग आत्मा समझ रहे हो वह तो पंच भूतों के मिलावट का एक गुण है।

युक्ति यह है कि चर्बी, मांस, रुधिर, हड्डी आदि की जहां मिलावट होती है वहां ज्ञान इस प्रकार उत्पन्न होजाता है जिस प्रकार गुड़ को सड़ाकर शराब बना लेते हैं और उसमें नशा करने का गुण होजाता है। उत्तर तुम्हारे विचार में ज्ञान भूतों से उत्पन्न हुआ इस बात को तो तुम भी मानोगे कि जो कुछ कारण में होता है वह कार्य में भी होता है जैसे मिट्टी की जो वस्तु होगी

आकृतियां जो क्षण क्षण में मिटती तथा उत्पन्न होती रहती हैं सत् हैं या असत् यदि कहो असत् तो तुमने वेदान्त के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जिस वेदान्त का हास्य निरन्तर करते थे उसी को मान लिया।

बाबू जी—मैंने स्वप्न के जगत को मिथ्या कहा है परन्तु जाग्रत में यह बात नहीं कि एक वस्तु हटी और दूसरी उत्पन्न हो गई।

उत्तर—क्या जाग्रत अवस्था में तुम उत्पन्न हुई वस्तुओं को नहीं देखते स्त्री के पेट से बच्चा उत्पन्न होता है बीज से वृक्ष बन जाता है वृक्ष की लकड़ी से अग्नि प्रगट हो जाती है तथा अग्नि से रोटी बनकर तैयार हो जाती है। विचार की दृष्टि से देखो तो बिलकुल इन्द्र जाल का तमाशा है। कहां बीज, कहां वृक्ष, कहां पानी की एक बूंद, कहां इतना बड़ा हाथी, कहां बुद्धिमान मनुष्य ? आश्चर्य है कि यह आकृतियां तुमको स्वप्न की तरह अस्थिर नहीं दीखतीं अर्थात् बदलने वाली प्रतीत नहीं होतीं।

बाबू जी—महाराज स्वप्न मन का खेल है और जाग्रत अवस्था में जाग्रत की वस्तुओं का कार्य कारण भाव होता है जैसे मिट्टी हो तो घट बने अन्य नहीं बीज

हो तो वृक्ष बने वरन् नहीं। इसलिये यहां जब तक कोई कारण विशेष रूप से न हो कोई भी आकार प्रगट नहीं हो सकते और स्वप्न में तो बिना कारण के प्रत्येक वस्तु सम्भव है, जाग्रत में हाथी का घोड़ा बनते किसने देखा है ?

उत्तर—जाग्रत में वस्तुओं का उत्पन्न होना तो तुम मानते ही हो इसी प्रकार (न) बीज से वृक्ष किसी की सहायता पाकर बन जाता है (उत्पन्न होता है) उत्पन्न होने के भाव तो वहीं रहेंगे कि जैसे स्वप्न की मूर्ति। यदि कहो कि यह क्योंकर ? तो सुनो। जिस प्रकार अभाव से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती इसी प्रकार सत् से भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जहां उत्पन्न होना माना गया है वह सब माया का खेल है और मन की करतूत है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड इस माया अर्थात् मन का रचा हुआ है और विचार द्वारा मन का पता लगाओ तो किंचित अंश भी नहीं मिलता। उसका दर्शन प्रतीति मात्र है वास्तविक नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि अभाव से कोई भी वस्तु भाव में नहीं आ सकती, अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती इसमें यह शंका उत्पन्न होगी कि वह वस्तु आई

तो आई कहां से जिसका समाधान करने को कोई समर्थ नहीं। इसी प्रकार जो वस्तु सत् है उसे यह कहना कि उससे दूसरी सत् वस्तु उत्पन्न हुई एक ही बात को दो बार कहना विद्वानों ने पुनरोक्ति दोष माना है यह व्यर्थ की बात चीत है।

बाबू जी-महात्मा जी! आपका कहना सर्वथा असत्य है सत् से भी वस्तुएं उत्पन्न हो सकती हैं।

महात्मा किंचित आंखों को चढ़ाकर कहने लगे अरे मूर्ख! तेरी समझ में नहीं आता कि सत् वस्तु को यह कहता है कि उत्पन्न हुई। क्या उत्पन्न होने से प्रथम सत् न थी? यदि कहो सत् न थी तो असत् माननी पड़ेगी और असत् से सत् की उत्पत्ति अवश्य माननी पड़ेगी जो सर्वथा असम्भव है। तुम तो बड़ी समझ रखते हो, सत् वस्तु को कहते हो उत्पन्न हुई वह उत्पन्न हाने से पूर्व भी सत् ही थी ना सत् वस्तु में से सत् वस्तु का उत्पन्न होना सर्वथा मिथ्या है। क्या तेरी समझ में इतना भी नहीं आता कि माया से परे तू सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

बाबू जी-मैं ब्रह्म हूं यह कैसे? ब्रह्म तो बहुत बड़ा

माना जाता है मैं तो एक छोटा सा मनुष्य हूं इसको ठीक २ समझा दीजिये ।

उत्तर-प्रथम तुम हमारे वचनों पर विश्वास करो तत्पश्चात् ग्रहस्थ के ख्यालों को चुकाकर चारों ओर घूमघाम कर सच्चे मन से साधुओं की शरण में जाओ उनमें तुमको कोई अनुभवी महात्मा भी मिल जायगा क्योंकि विना अनुभव के कभी अपना हित नहीं हो सकता चाहे ग्रहस्थ की बातें हों और चाहे परमार्थ की विना अनुभव के सभी व्यर्थ हैं। देखो जो जिज्ञासु ज्ञान की बातों पर विचार करता है उसको वैराग्य अधिक प्रिय होता है और उदासीन वृत्ति उसको विशेष रूप से प्रिय लगने लगती है और निःशेष रूप से त्यागी हुई उपाधियों को अपने पीछे नहीं लगने देता ।

प्रश्न १०७—भौतिकवादी का ग्रहस्थ त्यागकर साधु भेष में जिज्ञासु रूप से आना और शंका करना कोई जीव, ब्रह्म, प्रकृति इन तीनों को अनादि मानकर परस्पर भेद सिद्ध करता है । कोई दो पदार्थों को अर्थात् पुरुष और प्रकृति और कोई एकमात्र ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता हैं कृपया जीव, ब्रह्म तथा जगत का भेद अभेद, बन्ध, मोक्ष का स्वरूप दर्शाइये और जाग्रत,

स्वप्न, सुषुप्ति क्या है इसको भी बतलाने की कृपा कीजिये।

उत्तर—सुषुप्ति के अभिमानी जीव को प्राज्ञ नाम दिया जाता है तथा स्वप्न के अभिमानी को तेजस और जाग्रत के अभिमानी को विश्व नाम से बोलते हैं। यह भेद जाग्रत आदि अवस्थाओं में है, प्राज्ञ, तेजस, विश्व में नहीं। जो वास्तविक सत्ता (चैतन्य जीव) है वह तीनों अवस्थाओं में एक है। सम्पूर्ण जीवों का कारण शरीर मिलकर कल्पना करने वाले चैतन्य का समष्टि कारण शरीर और इनका अभिमानी चैतन्य ईश्वर नाम से कहा जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों के समष्टि सूक्ष्म स्थूल शरीर का अभिमानी चैतन्य हिरण्यगर्भ और विराट नाम से कहाता है। ईश्वर हिरण्यगर्भ और विराट में भी एक ही चैतन्य है अन्तर सिर्फ समष्टि शरीरों में है। जीव ईश्वर में जो भेद है समष्टि व्यष्टि का है ईश्वर तो समष्टि है अर्थात् समष्टि का अभिमानी है और जीव व्यष्टि का अभिमानी है। माया और माया के कार्यों की उपाधि करके जीव ईश्वर में भेद है जैसे ग्राम के किसान थोड़ी २ भूमि का अभिमान उठाकर कृषक कहलाते हैं और सम्पूर्ण भूमि के अभिमानी को दुनियां

के लोग ज़मीदार बोलते हैं। यदि दोनों की उपाधियों को हटा दिया जाय तो केवल स्वरूप से मनुष्य मात्र हैं न वह ज़मींदार है और न वह किसान। इसी प्रकार जीव तथा ईश्वर को व्यष्टि तथा समष्टि दृष्टि से हटाकर देखें तो दोनों शुद्ध ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हैं किन्तु ब्रह्म मन, वाणी का विषय नहीं उसे जाने तो क्यों कर जाने ?

इसका उत्तर यह है कि जीव तथा ईश्वर में पारमार्थिक रूप से तो किंचितमात्र भी भेद नहीं किन्तु व्यवहार दशा में भेद है वह भी इस प्रकार जैसे बिम्ब और प्रति बिम्ब में भेद स्वीकार कर लिया जाता है उसी प्रकार व्यवहार दशा में जीव तथा ईश्वर में भी कल्पित भेद अंगीकार किया जाता है क्योंकि इस भेद से धर्मों की व्यवस्था होती है घटाकाश महाकाश के न्याय से भेद तथा अभेद दोनों का तत्-तत् सम्भव स्थलों में रख दिया गया है और जब तत्, त्वं, असि आदि महावाक्यों के द्वारा कि वह तू है इस प्रकार शब्द * मात्र से भेद

---

* नोट—शब्द बड़ी उपयोगी वस्तु है जीवात्मा अमूर्त है अपने स्वरुप को भूला हुआ है उसको उस अमूर्त रूप को दिखलाने वाला शब्द है क्योंकि शरीर आदि का अभिमान करके अर्थात् देह से बंधा हुआ यह जीव एक शब्द से अर्थात सत गुरु के मुख से सुन कर संसार बंधन से छूट जाता है यह शब्द का महिमा है।

निर्देश भी अभेद प्रतिबोधित है तब जीव को संसरित और ब्रह्म का सृष्टि आदि का करना जाता रहता है। मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण भेद भाव यथार्थ ज्ञान से बाधित होजाता है अर्थात् वाच्य अर्थ को त्याग कर लक्ष्यार्थ में ही एकता होती है।

जीव का आधार शुद्ध साक्षी और ईश्वर का आधार शुद्ध चैतन्य की एकता दर्पण की तरह स्पष्ट प्रकाशित है क्योंकि दोनों शुद्ध ज्ञान स्वरूप हैं अर्थात ब्रह्म मैं हूं यह अनुभव जिज्ञासु को होता है। यदि तुम कहो कि हमको अभी अनुभव में नहीं आया इसका उत्तर यह है कि विना मनन, निदिध्यासन तथा वैराग्य के मनुष्य की बुद्धि में यह महावाक्यों का रहस्य आ ही कैसे सकता है। अतः एकान्त सात्यिकि भूमि में बैठ कर वारम्बार आत्मचिन्तन के द्वारा अपने आत्माराम को जानना चाहिये क्योंकि उस शब्दातीत के विषय में जो कुछ भी कहा जाता है उसको वाच्यांश कहते हैं, परन्तु शुद्ध लक्ष्यांश को विवेक से देखना चाहिये। इसमें पूर्व पक्ष माया है अर्थात् जगत अज्ञान का कार्य है जिसका सिद्धान्त में अत्यन्ताभाव हो जाता है। माया के न रहने पर जो कुछ शेष बच रहता है उसे क्या कहा जाय ?

अन्वय व्यतिरेक यह दोनों पूर्व पत्त से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं। (माया) शंका यह अन्वय व्यतिरेक क्या है? उत्तर कार्य से कारण को प्रथक करके देखने के अभ्यास को व्यतिरेक योग कहते हैं तथा कार्य में कारण को देखने के अभ्यास को अन्वय योग नाम से कहते हैं।

व्यतिरेक योग जगत को भुलाकर इसके बन्धन से मुक्त करा देता है किन्तु अन्वय योग जगत् में रहते सहते हुए ही जीवन्मुक्ति का अमृत पान कराता है। व्यतिरेक योग से अपने तथा जगत् के अन्दर ब्रह्म सत्ता दिखाई देती है किन्तु अन्वय योग में सर्व संसार ब्रह्म रूप ही दृष्टि आता है तथा भीतर बाहर ढूंढने पर भी सिवाय ब्रह्म के कुछ नहीं मिलता कारण शुद्ध सिद्धान्त तो सब का एक ही होता है उसमें दूसरा कोई नहीं होता यदि हम नीचे माया की ओर मुख करें तो भेद ही भेद बढ़ता है और यदि हम ऊपर की ओर देखने लगें (परब्रह्म पारमार्थ) तो सम्पूर्ण ईश्वर जीव तथा जगत् का भेद नाश हो जाता है (जैसे मनुष्य ऊपर चढ़कर नीचे को देखता है तो सब समान दीखता है और भेद भाव मिट जाता है) जब यह पता चल जाय कि माया

मिथ्या है फिर उसका भय क्योंकर हो सकता है माया से डरने के कारण ही तुम्हारी स्वरूप में स्थिति नहीं होती अच्छी तरह से विचार करने पर संसार का यह स्वरूप या स्वभाव समझ में आ जाता है।

जगत क्या है ? यह जो तुम्हारा प्रश्न है उसका उत्तर सुनो ! वेदान्त में एक ज्ञान स्वरूप सत् ब्रह्म के सिवाय जो कुछ प्रतीत होता है वह सब स्वप्न की तरह मिथ्या है सत्य नहीं वरन् ख्याल या भ्रम है। जिस शक्ति से ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में संसार की कल्पना होती है उसे माया, अविद्या, अज्ञान, आदि का नाम दिया जाता है यह माया त्रिगुणात्मक है अर्थात् इसके सत्व रज तम तीन गुण हैं तम वह शक्ति है जो सूक्ष्म और स्थूल वस्तुओं को नाम रूप में लाती है पत्थर, मिट्टी, वृक्ष, मनुष्य, पशु तथा पक्षियों के देह तमोगुण रूप हैं रज क्रिया देने वाली शक्ति है जैसे मनुष्य के हाथ पैर का हिलना यह सब रजोगुण रूप हैं सत्व प्रकाश करने वाली शक्ति है जैसे ज्ञान इन्द्रियां और मन तथा मन के ज्ञानादि की वृतियां सब सतोगुण रूप है सत्व, रज, तम, इन तीनों का प्रकाश मनुष्य में स्वभाविक है। सुख एवं ज्ञान यह सतोगुण का कार्य है काम करने का उत्साह

यह करें यह कर रहा हूं और यह आगे करूंगा अर्थात् प्रत्येक समय कर्तृत्व को भाव बना रहना यह रजोगुण का कार्य है निद्रा, आलस्य, आदि तमोगुण का कार्य है संसार में कोई वस्तु इन तीन गुणों से प्रथक नहीं।

यह संसार गंगा की धारा के समान जारी है इस का आदि अन्त कुछ नहीं कभी प्रलय कभी सृष्टि यह तारतम्य बराबर जारी रहता है सृष्टि उत्पन्न होने के समय माया की उपाधि वाले ईश्वर में जीवों के कर्मों की अपेक्षा से यह इच्छा होती है कि मैं सृष्टि रचूं (यह रजोगुण का कार्य है) इसी संकल्प से वह स्वप्न की तरह संसार की रचना करता है। रचना में पहला संकल्प आकाश का होता है जिसका गुण शब्द है आकाश के तमोगुण अंश से वायु अग्नि जल पृथ्वी उत्पन्न हुई आकाश आदि यह पांचों सूक्ष्म भूत कहलाते हैं। सूक्ष्म भूत माया का कार्य है इस कारण से यह सूक्ष्म भूत ही दृढ़ अभ्यास से स्थूल होकर दीखने लग जाते हैं स्थूल और कोई वस्तु नहीं है इन्हीं से यह सम्पूर्ण जगत बनता है यह जगत का अध्यारोप से वर्णन किया गया अर्थात् पूर्व पक्ष को लेकर ही कथन किया गया कि यह जगत अज्ञान का कार्य है वास्तव में दृश्य को अध्यारोप और

आरोपित जानने का कोई कारण नहीं इसलिये एक चिद्रूप ब्रह्म ही नाम रूपात्मक जगत के रूप से विकसित हो रहा है और चिद्रूप पुरुष ही अपने स्वरूप को आप निहार रहा है।

अब रहा बन्ध मोक्ष का प्रश्न, उसका उत्तर यह है जीव वास्तविक में शुद्ध ज्ञान स्वरूप है अतः उसे यही अनुभव होना चाहिये कि मैं ज्ञानस्वरूप एकरस आदि अन्त से रहित आनन्द सागर शान्त स्वरूप हूं इसी को सीधा अनुभव तथा मोक्ष नाम दिया जाता है किन्तु यह आश्चर्य है कि प्रत्येक मनुष्य को इसके विरुद्ध यह अनुभव हो रहा है कि मैं साढ़े तीन हाथ का मनुष्य हूं काला, गोरा, स्त्री, पुरुष, माता, पिता इत्यादि धनी निर्धनी, जवान, बूढ़ा, वर्ण तथा आश्रमों वाला हूं तथा मैं कर्म करके उसका फल पाऊंगा परलोक कमाऊंगा मुझ को यथेष्ट परिश्रम करके मोक्ष पाने के साधन में लग जाना चाहिये ताकि दुख रूप बन्धन का छुटकारा होवे और आनन्द रूप मोक्षपद की प्राप्ति होवे इन सब भूमों को ही बन्ध का नाम दिया जाता है।

यह बन्ध स्वरूप में उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार राजा स्वप्न में अपने आपको दरिद्री भिक्षुक

आदि का अनुभव करके दुख पर दुख उठावे और किसी प्रकार भी शान्ति न पाये स्वप्न में दुखों का कारण निंद्रा है और जाग्रत में दुखों का कारण अनादि अविवेक का सम्बन्ध है जिस प्रकार स्वप्न से जाग्रत होने पर स्वप्न के सम्पूर्ण दुखों का निवटारा हो जाता है उसी प्रकार अनादि अविद्या की निद्रा से जाग्रत होने पर मोक्ष को प्राप्त होता है (अपने स्वरूप को पहिचानना) जीव का अविद्या की उपाधि से रहित ठहरना ही मोक्ष है ? मेरा आत्मा ही अद्वैत परं ब्रह्म स्वरूप है ऐसे अभेद ज्ञान को अपरोक्ष भाव से जानना हीं बोध कहलाता है और उसमें पूर्ण रूप से स्थिति ही परंपद है उपाधि युक्त पूर्ण मैं हूं ऐसा अनुभव होना ही बन्ध है और स्वरूप में दृढ़ निश्चय होना मैं हूं मोक्ष है जब तक अपने प्रत्यक्ष आत्मा का ब्रह्म रूप से बोध नहीं होता * तब तक जगत अनंत

---

* मैं मैं तू तू का धोखा अज्ञान के अन्धेरे में होता है जैसे जल के सूखने पर प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मैं और मेरे पन से रहित होना ही मोक्ष है अर्थात् जहां मन का सद्भाव नहीं रहता वहां जीवत्व भाव भी नहीं रहता अर्थात् अहं त्वं के संस्कार रूपी विकार नहीं रहते इसलिये वह ब्रह्म अनुभव को प्राप्त होता है वह जीते जी परं शान्ति का अनुभव करता है।

जीवों की एक बस्ती प्रतीत होती रहती है और इनका एक नियत स्थान अथवा किसी एक समय में समुदाय सहित रहना सहना और कभी एक दूसरे से पृथक हो जाना और अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प करने से विषाद युक्त रहते हैं शान्ति कदाचित नहीं मिलती। तत्व साक्षात्कार होने से किसी प्रकार का संशय तथा भ्रम नहीं रहता मन स्वयं ही समाहित होकर शान्त रहने लगता है * और प्रत्येक वस्तु एक ही तत्व रूप से दिखाई देने लगती है बड़ाई तथा छोटाई तथा नाना प्रकार की शंकायें मनुष्य को फिर व्याकुल नहीं करतीं या यह कहो कि ब्रह्म बोध होते ही जीवन की सब उलझनें अच्छी प्रकार चित्त से निकल जाती हैं और समस्त विरोध तथा भेद भाव का निबटारा हो जाता है और मान अपमान से होने वाली चित्त विक्षिप्तता की निवृत्ति होकर आनन्द की स्फूर्ती होने लगती है। क्या जाग्रत क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में विवेक दृष्टि से सम्पूर्ण पदार्थों के नाम रूप भ्रम (ख्याल) मात्र जान

---

* जैसे फल देकर पुष्प सूख जाता है तथा सुन्दर गीत को सुनकर मनुष्य मौन हो जाता है उसी प्रकार सत चित आनन्द पद द्रष्टा को दिखा कर मौन हो जाता है।

पड़ते हैं और जिज्ञासु को प्रत्येक दशा में ब्रह्मात्मा का दर्शन होने लगता है अतः तुम भी इस कल्पित जगत को देखते हुए अथवा लोप करते हुए अस्ति भाति प्रय रूप से अपने आत्म स्वरूप को देखते हुए विचरो। यह कदापि शंका न करो कि यह प्रत्यक्ष संसार परब्रह्म से भिन्न कोई सत् वस्तु है ऐसा देखना तो विवेक शून्य पुरुषों का काम है प्रत्येक अवस्था में स्वरूपानुसन्धान करते हुए अपने आप में मस्त रहो जहां मन का अत्यंताभाव होजाता है वहां अहं त्वं के भाव विकार नहीं रहते अतः जो ब्रह्म अनुभव को प्राप्त हुआ है वह शरीर से ही ब्रह्म है जिनके अन्दर यह लक्षण आ जाते हैं उनका व्यवहार तथा परमार्थ एक हो जाता है अर्थात् जो परमार्थ है वही प्रपंच है और जो प्रपंच है वहीं परमार्थ है जो सन्यास है वही जगत है जो जगत है वही सन्यास तथा ज्ञान है।

यह हमने तुमको ज्ञान की ऊंची भूमिका बतलाई जगत को ब्रह्म रूप मानना सत्य है परन्तु जगत के सिवाय और कुछ न देखना ही भ्रम वा धोका है तथा अज्ञान अविद्या है इसी भ्रम किंवा अज्ञान ने समस्त ब्रह्मांड को रच डाला है परन्तु यही महा अज्ञान है कि

जगत और ब्रह्म की भिन्न २ दो सत्ता मान कर एक के अन्दर दूसरे को व्यापक मानना परं भूल है। यह जो तुम्हारा प्रश्न है कि जाग्रत आदि क्या है। उत्तर जाग्रत अवस्था आत्मा का विराट रूप है स्वप्न अवस्था आत्मा का हिरण्यगर्भ रूप है और सुषुप्ति आत्मा का अव्याकृत रूप है इन तीनों के साक्षी का (ज्ञान) आत्मा का तुर्या रूप है और साक्ष्य के अभाव से साक्षी का साक्षी पन न रहना यह आत्मा का तुर्यातीत रूप है जो केवल कैवलीभाव है अथवा ज्ञान मात्र है परन्तु यह बात कह देना बहुत सरल है किन्तु अनुभव में लाना कठिन है शंका अनुभव कैसे हो। उत्तर-जैसे हम एक मनुष्य को देखकर विश्वास करके जान लेते हैं कि वह एक मनुष्य है और अपने नाम रूप तथा सर्वकार्यों को वही धारण कर रहा है इसी प्रकार जब आत्म दृष्टि खुलती है उस काल में समस्त विश्व एक पुरुष रूप दृष्टि आता है तथा सर्व वस्तुओं के नाम रूप इसी के प्रतीत होने लगते हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, बादल, वायु, सूर्य, चन्द्र विद्यु पर्वत, तारा आदि सब उस अनन्त शक्तिशाली के ही नाम हैं।

अविद्या किंवा मोह रूपी अज्ञान का नियम यही है

कि उस अनन्त शक्तिशाली ब्रह्म में भिन्न रूप से दूसरे पदार्थों का ज्ञान उपजाती है (इस भ्रम से बचते रहना) इसी कारण अविद्या अवस्था में पृथक २ स्वतन्त्र तथा स्वाधीन भाव से हमको एक २ वस्तु का ज्ञान होने लगता है और उस महा मोह रूपी अविद्या के नष्ट होने पर यह भिन्नता का ज्ञान भी सदैव के लिये अपना मुंह छिपा जाता है ढूंढने पर फिर पता नहीं लगता कि कहां भाग जाता है। जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार का अभाव हो जाता है (अर्थात् एक दो की कल्पना से सर्वथा शून्य पूरी निष्ठा पा जाता है) उसी प्रकार सर्वत्र अद्वैत आनन्द ब्रह्म का दर्शन होने लगता है। देखो शब्द स्पर्श आदि विशेष २ विज्ञान के द्वारा यह अनुभव हो जाता है कि ब्रह्मात्मा नित्य शक्ति स्वरूप है विशेष २ विज्ञान तथा क्रियायें ही उस नित्य आनन्द स्वरूप के परिचायक चिन्ह हैं नाना आकारों के स्वरूप में वही एक सत्ता विद्यमान है यही इनके विशेष २ विकाश का प्रयोजन है और यह संसार अनेक प्रकार से उसी के नित्य ज्ञान शक्ति को निरन्तर प्रकाशित कर रहा है तथा भिन्न २ विज्ञानों में वही एक ज्ञान प्रकाशित है तथा भिन्न २ क्रियाओं में वही एक महाशक्ति प्रका·

शित है। जो भाग्यवान विवेक सम्पन्न पुरुष होते हैं वह सर्व भूतस्थ पदार्थों में नित्य शुद्ध बुद्ध अपने ब्रह्म स्वरूप आत्मा का अनुभव करते हैं उनको अपने आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थों का बोध नहीं होता वरन् उस काल में कर्ता (मैं पन की परिच्छिन्न दृष्टि देहाभिमान से होने वाली) का अभाव हो जाता है और मैं के लक्ष्यार्थ में (अपने वास्तविक स्वरूप में) दृष्टि को स्थित करके जगत के पदार्थों से उदासीन रहने लग जाता है क्योंकि वह ब्रह्मानुभव को प्राप्त हो चुका है। इसी कारण से वह वैराग्यवान किसी पदार्थ का अभिलाषी न बनकर चित्त में सन्तोष को धारण करके आनन्द मस्ती से संसार में रहते सहते सुख पूर्वक जीवन को व्यतीत करता है!

जगत की उत्पत्ति आदि के विषय में तुम्हारी शंका है कि कोई शास्त्र तीन पदार्थों को कोई दो तथा कोई एक को ही मानता है उसका उत्तर यह है कि यदि जीव (चैतन्य) और प्रकृति दोनों वस्तु प्रथक २ मान ली जावें तो यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जीव (पुरुष) ज्ञान स्वरूप होने के कारण अकर्ता ठहरेंगे तब इस प्रत्यक्ष संसार को प्रकृति से उत्पन्न मानना पड़ेगा परन्तु संसार में सांसारिक वस्तुओं को देखकर इसके कर्ता का

अनुमान होता है। घट पट आदि पदार्थों को देखकर कुम्भकार तथा तन्तुवाय का अनुमान होता है और इसके अतिरिक्त वस्तुओं में विचित्रता की प्रतीति होती है इसलिये जड़ प्रकृति किंवा प्रधान संसार को नहीं बना सकता और न जड़ प्रकृति से ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है जो जीव का वास्तविक स्वरूप है और जो तीन पदार्थों को अनादि मानते हुए एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मानता है ऐसा कहने वाला विवेकशून्य है और पूर्व पक्ष का सिद्धान्त मान बैठा है और विचार नहीं रखता इस प्रकार कहने वाले का विश्वास नहीं करना चाहिये जो मनुष्य स्वयं धोके में है वह विश्वास के योग्य नहीं है।

इन तीन पदार्थों के मानने वाले से पूछना चाहिये कि इन तीनों का सम्बन्ध (सत्तापने) कौन नियत करता है जो जगत की रचना कर सकें, जहां पर अनेक मनुष्य मिलकर कोई कार्य करते हैं वह कार्य उनसे भिन्न किसी दूसरे के लिये हुआ करता है तो यह जगत किसी चौथे के लिये मानना पड़ेगा यह दोष आजायगा। दूसरा दोष यह है कि ईश्वर और जीव केवल ज्ञान स्वरूप होने से अकर्ता ठहरेंगे उनसे भी संसार नहीं बन सकता और

यदि ज्ञान के उत्पन्न होने वाला माना जाय तो ईश्वर और जीव के जड़ मानना पड़ेगा और ज्ञान इस प्रकार मानना पड़ेगा जिस प्रकार लोहे के अग्नि में तपाने से लोहे में दाहकता आ जाती है किंवा घट में जल भरने से घट में ठंडापन का गुण आ जाता है। अब यह प्रश्न होता है कि ईश्वर जीव ज्ञान गुण वाले हैं किस से बने परमाणुओं की मिलावट से या प्रकृति के परिणाम से क्योंकि जड़ वस्तुयें और किसी प्रकार से प्रगट नहीं हो सकतीं यदि यह बनी हुई वस्तुयें हैं तो नाशवान ठहरेंगी और जो ईश्वर को निराकार ज्ञानस्वरूप किंवा नित्य मुक्त स्वभाव मानकर सृष्टि का कथन करे तो उसका यह कथन सन्निपात वाले मनुष्य के समान है इसके वचन में कोई सार्थकता नहीं यह यथार्थ बोध से सर्वथा रहित है।

यदि ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी जड़ वा चैतन्य सत्ता के माना जायगा तो परं ब्रह्म परमात्मा का अनंत पना खंडित हो जायगा और वह ब्रह्म यथार्थ में ब्रह्म किंवा परमात्मा न रहेगा जिस सत् के साथ किसी दूसरी सत् वस्तु का विचार किया जायगा तो वह सत् दूसरे सत् के कारण से सत् कभी नहीं रह सकती क्यों कि

दूसरी सत्ता ही इसकी सत्ता को सत् होने से पृथक एक देशी तथा विनाशी बना देगी। विवेक शून्य मनुष्य अल्प बुद्धि के कारण से वेदान्त के गुप्त रहस्य को न समझ कर परमात्मा को केवल वाणी आदि के द्वारा अनन्त तथा सत् चित कह देते हैं और साथ ही साथ दूसरे पदार्थों को भी मान बैठते हैं। वह मनुष्य विचार शून्य होते हैं। जिस परमात्मा को जगत के रचने के लिये अपने से भिन्न किसी अन्य वस्तु की आवश्यक्ता पड़ती है वह पूर्ण ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता अपूर्ण किंवा परतन्त्र ही रहेगा। परं ब्रह्म परमात्मा की पूर्णता इसी में है कि वह जगत की रचना में स्वयं ही पर्याप्त हो अर्थात् अपने से भिन्न किसी दूसरे सत् की सहायता न रखता हो। जो मनुष्य भ्रम या अज्ञान की दलदल में फंस कर नानत्व को ही देखा करते हैं अर्थात् इस प्रत्यक्ष जगत को ही सत् देखा करते हैं तथा अपनी सहायता के लिये अर्थात् संसारी वस्तुओं की प्राप्ति के लिये ईश्वर को चाहा करते हैं उनकी इस सांसारिक भावना का फल यह होता है कि मन में अनन्त वासनायें उठा करती हैं तब विषयों के साथ मन जुट जाता है और जब शरीर त्यागता है तो वासनाओं को पूरी करने के लिये (सूक्ष्म

शरीर के अन्दर विषयों की वासना एवं संस्कार पड़ गये हैं) स्थूल शरीर की प्राप्ती होती है इस प्रकार जन्म मरण रूपी संसार में अनेकबार चक्र लगाता है जो अनेकपने के दर्शन का फल है। यह ध्यान रहे कि इस स्थूल शरीर की रचना कोई नहीं करता मनुष्य अपनी ही वासना रूपी बीज किंवा संस्कार द्वारा अन्तःकरण रूपी भूमि में शरीर प्रगट करता है स्वप्न के दृष्टान्त से यह बात सबको अनुभवजन्य है इस विषय में विशेष लिखना व्यर्थ है।

जब तक वासनायें मौजूद हैं तब तक इनकी पूर्ति करने के लिये स्थूल शरीर की रचना होती रहेगी और तब ही तक संसार की सत्यता (अनेकता) प्रतीत होती रहेगी और जब तक संसार की सत्यता ज्ञात होती रहेगी तब तक हमारे मन में नई २ वासनाओं का जन्म होता रहेगा और इन्हीं वासनाओं के आवरण के कारण मनुष्य को परं ब्रह्म परमात्मा की सत्ता एक कल्पना (खयाली) प्रतीत हुआ करेगी। खैर जो हो सो हो, आओ हम सब जिज्ञासुओं को वैराग्य युक्त विवेक पूर्वक परस्पर विचार करना चाहिए। देखो जगत् का कारण सत् (ब्रह्म) है अपने सम्पूर्ण कार्यों में व्यापक है जैसे सुवर्ण व मृतिका

अपने भूषण तथा बर्तनों में व्यापक है न कि प्रधान (प्रकृति) यदि प्रकृति जगत और जगत के पदार्थों का कारण होती तो अपने कार्यों में उसी प्रकार प्रगट होती जिस प्रकार भूषण में सुवर्ण तथा बर्तनों में मिट्टी परन्तु जीवों को यह प्रकृति या प्रधान अनुभव नहीं होती अतः प्रधान को जगत का कारण मानना परं भूल है।

जगत् का कारण केवल सत् है वह अपने सब कार्य में व्यापक है प्रत्येक वस्तु में सत्ता का अनुभव होता है यह क्योंकर ? जैसे घट है, पट है, यह हैपना अपने प्रत्येक वस्तुओं में देखा जाता है दूसरे यों समझ लो कि प्रत्येक वस्तु हमारे अनुभव में आती है कि ज्ञान वाली है तीसरे प्रत्येक वस्तु में प्यार है अर्थात प्यारी हैं यदि उनमें प्यार न होता तो प्राणियों को प्यारी क्यों लगती अतः आनन्द रूप है। माना कि अपना शत्रु हमें प्यारा नहीं परन्तु उसके स्त्री पुत्र आदि से पूछो कि उनको कैसा प्यारा है सर्प बिच्छू सिंह आदि को हम लोग घातक पशु जानते हैं परन्तु सर्पनी तथा सिंहनी आदि की दृष्टि में वह परंप्रिय हैं।

सुषुप्ति में अपनी आत्मा आनन्द रूप से सबको अनुभव होती है इसीलिये हम लोग घर के काम काज से

छुटकारा पाकर उसकी तरफ झुक पड़ते हैं जाग्रत अवस्था में नाम रूप वाली वस्तुओं का प्रकाश सच्चिदानन्द रूप है। स्वप्न में भी नाम रूप वाली वस्तुओं का प्रकाश सच्चिदानन्द रूप है। बस तीनों अवस्था में प्रत्येक वस्तु सत् चित् और आनन्द रूप ठहरती है इसी का दूसरा नाम वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्म है। सुषुप्ति में जब यह आकृतियां नहीं रहतीं तो भी नाम रूप का अभाव होने पर जो वस्तु शेष रहती है वह सच्चिदानन्द रूप है। हां इतनी बात अवश्य है कि जाग्रत में सत् की प्रतीति अधिक होती है चित और आनन्द की नहीं। स्वप्न में चित्त की अधिक प्रतीति होती है सत् और आनन्द की नहीं, सुषुप्ति में आनन्द का अधिक स्फुरण होता है चित्त और सत् का कम। यह तीनों सत्ता प्रथक २ नहीं वरन् विचार दृष्टि से देखा जाय तो सुगमता से जान पड़ेगा कि क्या जाग्रत और क्या स्वप्न नाम रूपात्मक संसार भ्रम (ख्याल) मात्र है किन्तु कुछ में सत्य का और कुछ में असत्य का भ्रम होता है। यथार्थ में ज्ञान स्वरूप परमात्मा के अतिरिक्त किंचित भी विद्यमान नहीं है उसे तो अपने वास्तविक स्वरूप का ही अनुभव होना चाहिये जो कि समाधि किंवा मोक्ष दशा में होता है।

दूसरी दृष्टि से विचार करो तो जीव ब्रह्म का अंश है और जीव के रूप में ब्रह्मात्मा ही प्रगट होकर जीव नाम पाता है जैसे बीज ही वृक्ष की अनगिनत शाखां में प्रथक २ नाम तथा रूपों को अङ्गीकार करता हैं। स्थूल दृष्टि से तो वह नाम रूप प्रथक २ प्रतीत होते हैं और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वह सबके सब बीज में आन्तरिक एकता रखते हैं क्योंकि वह एक बीज के ही नाना आकारों में होते हुए भी बीज से प्रथक अपनी सत्ता (नामरूप) नहीं रखते। इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से देखने पर तो सम्पूर्ण जीव एक दूसरे से भिन्न २ प्रतीत होते हुए स्वयं अपनी २ सत्ता रखते हैं परन्तु जब जिज्ञासु की विवेक दृष्टि खुलती हैं अर्थात् यथार्थ वस्तु के देखने योग्य होती है तब सम्पूर्ण जीवों के प्रथक २ नाम रूप एक ही आत्मा के दीखने लगते हैं जिस प्रकार शरीर के अनेक अंग एक अंगी के ही ज्ञात होते हैं। यह भूल विशेष कर बुद्धि की है कि उसने जगत को रचित और सृजित समझ लिया है इसी से नाम रूपात्मक जगत से बाहर अन्य किसी सृष्टा की कल्पना करनी पड़ी।

विचारदृष्टि से देखो कि वह एकतत्व ही अविकाश होकर आकाश रूप है और वही परमात्म सत्ता स्फुरण

होकर वायु है तथा वही ज्ञान स्वरूप ब्रह्मात्मा प्रकाश रूप होकर अग्नि है वही द्रवित रूप होकर जल है और वही कठोर रूप होकर पृथ्वी है और परं ब्रह्म परमात्मा ही इन पांचों भूतों की मिलावट है और आत्म सत्ता ही इन की मिलावट का फल जड़ और चैतन्य रूप सृष्टि है और वह परमात्मा ही सृष्टि के विषय में भिन्न २ कर्म, धर्म तथा स्वभाव है इसलिये सृष्टि वा पञ्च भूत कोई दूसरी वस्तु नहीं एक परमात्म सत्ता ही अपनी महिमा के द्वारा आपमें आप स्थित है दूसरी वस्तु न है, न हुई और न होगी ऐसे अद्वैत बोध का अनुभव करके जिज्ञासु सर्व अवस्था विषय तुल्य रहता है किसी अवस्था को अपने स्वरूप से भिन्न नहीं देखता अथवा अपने सहित सबको ब्रह्मात्मा जानकर सब प्रकार के संशय तथा विकल्प से मुक्त होकर न किसी से राग करता है और न द्वेश और न किसी अवस्था को श्रेष्ठ तथा अश्रेष्ठ जानता है वरन् समस्त का ज्ञान मात्र जानता है अर्थात् ज्ञान को ज्ञान में लीन करके पश्चात् उस ज्ञान को भी विज्ञान में लीन करता है क्योंकि वृत्ति रूप से ज्ञान तथा अज्ञान दोनों सम हैं। निवृत्ति रूप से विज्ञान होना चाहिये ब्रह्म किंवा आत्मा स्वयं ही ज्ञान स्वरूप है जब ज्ञान का ज्ञान

होता है तब अज्ञान का ज्ञान निवृत हो जाता है और ज्ञान से ज्ञान को प्राप्त होकर ज्ञान मात्र आनन्द को अनुभव करता है मानो ज्ञान रूप होकर ज्ञान के चक्षु से ज्ञान को देखता है और फिर ज्ञान को ज्ञान में लीन करके ज्ञान से पार(होकर) रहता है अर्थात् ज्ञानाभिमान की फांसी से मुक्त होजाता है तथा फिर निर्भय स्वच्छंद होकर आनन्द रूप मस्ती में विचरता है।

प्रश्न १०८—महाराज आपने मुझे आनन्द रूप कर दिया अब यह बतलाइये कि निर्विकल्पता कैसे प्राप्त हो और संसार में निःस्पृह होकर कैसे विचरूं तथा भिक्षा वृत्ति आदि का नियम श्रीमुख से बतलाने की कृपा करें।

उत्तर—ज्ञात होता है कि तुमको वास्तविक आनंद नहीं मिला जो आनन्द दूसरों के आधीन है वह आनन्दामृत अनुभव को अभी प्राप्त नहीं हुआ यह आनन्द तो तुम को पहले भी प्राप्त था परन्तु घर बार की चिन्ता फिक्र के कारण आनन्द होता हुआ भी अनुभव नहीं होता था सन्यास लेने पर निवृत्ति मार्ग में आकर तुमने उसको छोड़ दिया इसलिये अब तुमको अपना वातस्विक स्वरूप प्रकाशित होगया घर पर रहने से जो तुमको विषयों में आनन्द जान पड़ता था और

उन विषयों के नाश का भय तुमको सदा लगा रहता था वह भय हमारे उपदेश से दूर होगया देखो निर्विकल्प की कल्पना तो करनी चाहिये परन्तु मन में यह भाव न रखना चाहिये कि कल्पना करने वाला मैं हूं सब प्रकार से अहं भाव का नाश कर देना चाहिये स्वयं कुछ न होकर रहना चाहिये कुछ बनने के मार्ग पर चलकर कोई मनुष्य पूर्ण शान्ति तथा सहज स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि बनने में मनुष्य परिच्छिन्न दृष्टि से मुक्त न होकर अनन्त भाव को प्राप्त नहीं कर सकता। बनने में सदा अहंकार घमंड द्रोह राग द्वेष आदि के विषय युक्त कंटक भरे रहते हैं बनने में हम कुल से अर्थात् समष्टि से पृथक रहते हैं इसी पृथकता के कारण हम अपनी परिच्छिन्नता अर्थात् अल्पज्ञता का अभिमान उठाकर सुख तथा दुखका अनुभव करते रहते हैं अतः यह अहंपने का अनुभव ही बन्धन है किंवा परतन्त्रता का जीवन है क्योंकि कुछ भी बनना खुदी किंवा अहंकार है और होना यथार्थ आत्मा है अर्थात् अपने में स्थित होकर कुल के साथ एकता को प्राप्त कर अनन्तता का अनुभव करने लग जाते हैं तथा अनन्तता को प्राप्त होते हैं।

भिक्षा आदि का नियम

विरक्त निःस्पृह बोधवान भिक्षुक को अपने गुणों को प्रकाशित करके लोक प्रिय बनने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये क्योंकि लोक वासना करके शुभ साधन शीघ्रता से अहंता तथा ममता में बदल कर साधक को उसके कार्य में उल्टे बाधक बन जाते है जो साधन मन के विकारों तथा विक्षिप्तता को निवृत्त न करे वह साधन साधन नहीं है वरन् एक प्रकार का दम्भ या पाखंड है इसी कारण प्रायः यह साधन मुमुक्षुओं के कल्याण कराने में यथार्थ सहायक नहीं होते भिक्षुक मायक वस्तु का (धन स्त्री आदि) मन से भी स्पर्श न करे स्वयं मांग कर भिक्षा, क्षुधा निवृत्ति अर्थ खानी चाहिये न्योता नहीं मानना चाहिये किसी की पङ्गति में बैठकर भी न खाना चाहिये वस्त्र ऊनी तथा रेशमी न लेकर एक कन्था एक कटि वस्त्र दो कोपीन रखनी चाहियें * क्योंकि अधिक

* नोट—जो निवृत्ति मार्ग में आये हैं उनकी निवृत्ति दो प्रकार की होती है। बाहर की और अन्दर का बाहर की निवृत्ति भिक्षा आदि से निर्वाह करना तथा शीत निवारण के अर्थ कोई थोड़े से वस्त्र से निर्वाह करता है और कोई किसी की अपेक्षा कपड़े अधिक वस्त्र से कोई पक्की कुटी में रहकर काल को

रखने से तथा विशेष दामों का होने से उनके रक्षा करने की चिन्ता करनी पड़ती है। कन्था पर फटे पुराने वस्त्र चढ़ा लेने चाहिये। जूता छाता अथवा धातु का पात्र नहीं रखना चाहिये। बैल घोड़ा आदि की सवारी पर बैठकर न चलना चाहिये, पान बीड़ी आदि का व्यसन न लगाना चाहिये वर्णाश्रम के अभिमान करने वालों के साथ वाद विवाद न करके उनको अपने हृदय का अभिप्राय न सुनावे और न उनको अपनी कोई चेष्टा दिखावे किसी के पूछने पर भी अपना परिचय न दे, मकान, कुटिया, बाग, बगीचा, मन्दिर, विद्यालय तथा औषधालय आदि का आरम्भ न करे और न ग्राम में वास करे।

* बिताता है तो कोई कूप की कुटी में रहकर निर्वाह करता है कोई ग्राम से दूरी पर रहता है कोई समीप में। इस प्रकार से बाहर तथा अन्दर की निवृत्ति सबको एक जैसी ही समझनी चाहिये अपने आत्मा का मनन करना अन्दर की निवृति है। इस में भी कोई मौन होकर ब्रह्माभ्यास करता है कोई शास्त्रों के द्वारा मनन करता है कोई एकाएकी होकर कोई परस्पर मिलकर बस इसलिये अन्तर की निवृत्ति सर्व महात्माओं की एक जैसी है इस प्रकार बाहर अन्तर की निवृत्ति का फल अद्वैत निश्चय रूप ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति भी सर्व महात्माओं को एक जैसी होती है निवृत्ति परायण महात्माओं का साधन तथा फल सब का एक जैसा समझना चाहिये।

सदा एक स्थान पर न रहकर तीर्थों में चलते ...
रहना चाहिये और यदि एक स्थान पर रहने का संयोग
बन जाय तो उदासीन और असंग होकर रहे। शान्ति,
मित्रता, धीरज और विचार सहित बर्ताव करे अपना
ज्ञान न बघारे अर्थात् अपने ज्ञान को सुना २ कर उनसे
अपनी स्तुति पूजा न करावे। अपना ज्ञातृत्व न रखना
चाहिये तथा समुदाय के साथ मंडली बनाकर कभी न
घूमे खान पान पदार्थों के लिये जगह २ न दौड़ना चाहिये
जान बूझकर किसी से शंका समाधान करके वाद विवाद
न करे यदि शरीर में कोई कष्ट आन प्राप्त हो तो
घबराना न चाहिये तथा अपमान होने पर दुखी न होवे
अपमान करने वाले को बुरा भला न कहे संसारी
मनुष्यों से अधिक संसर्ग न करके उनसे अधिक संभाषण
भी न करे किसी के वैभव की ओर न देखना चाहिये अर्थात्
किसी की पूजा आदि देखकर चित्त में ईर्षा द्वेष के भाव
तथा विकार उत्पन्न न होने चाहियें और महत्व रखकर
न बैठना चाहिये तथा अपने विरक्ति भाव भी नष्ट न होने
चाहियें और मान की इच्छा न रखनी चाहिये तथा ग्राम
से दूरी पर जंगल में एकान्त जगह पर ठहरकर जाग्रत
अवस्था में सब पदार्थों से सुषुप्तिवत् रहते हुए अपने

रखते ... स्वरूप कूटस्थ आत्मा में जगते रहना चाहिये ऐसे ज्ञानवान् निःस्पृह पुरुष को प्रत्येक दशा में आनन्द ही आनन्द रहता है ।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः।
प्रबुद्धतत्वस्य हि बन्धमोक्षो मुक्तात्मनो ह्यचसुखानुभूति ॥

अब मैं अपना उपदेश समाप्त करता हूँ प्रसंग पड़ने पर साधारण प्रश्न तथा उत्तर के रूप में जनता के कल्याणार्थ प्रकाशित कर दी गई यदि कुछ अनुचित लिखा हो तो पाठक क्षमा करें ।

इति शुभम्

---

* नोट-जिनका चित्त उदारता को प्राप्त हुआ है तथा जिनका चित्त सुन्दर वैराग्य के रस में रंग गया है तथा जिन्होंने सर्व आरम्भों का त्याग किया है और जिनकी बुद्धि आनन्द प्रवाह में मग्न है किंवा जो वर्ण आश्रम की कल्पना को मिटाकर स्वरूप में स्थित होकर निर्भय रूप से घूमते फिरते हैं वही पुरुष सच्चे सन्यासी व साधु हैं। अर्थात् मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के लिये त्याग करना परं आवश्यक है ।

